रमण महर्षि

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

रमण महर्षि

कृष्ण स्वामीनाथन्

अनुवाद

रमानाथ शास्त्री

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली

पहला संस्करण 1977 (शक 1899)
तीसरा संस्करण 1990 (शक 1912)

रु. 12.50

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित।

विषयानुक्रम

भाग 1 : चरितामृत

भाग 2 : वचनामृत

आभार-प्रदर्शन

श्री रमणाश्रमम् ने अपने प्रकाशनों से प्रचुर उद्धरण लेने की अनुमति प्रदान कर जो उदारता दिखायी है, लेखक उसके लिए आश्रम के अधिकारियों का हृदय से आभारी है।

भाग 1—चरितामृत

1. पृष्ठभूमि : इतिहास और पुराण-कथा

रमण महर्षि ऋषियों की उस परंपरा की कड़ी है जिसका आरंभ उपनिषदों के आचार्यों से हुआ—जिन्होंने अपने उपदेशों और जीवन से ज्ञान-मार्ग की शिक्षा दी। बुद्ध और शंकराचार्य भी इस परंपरा में आते हैं। शंकराचार्य (788-820 ई.) के बाद महर्षि ही इस मार्ग के सबसे बड़े पथ-प्रदर्शक हैं। प्रोफेसर डी. एस. शर्मा के शब्दों में : "ऐतिहासिक दृष्टि से, हम यह कह सकते हैं कि शंकराचार्य के बाद ज्ञान पर इतना जोर और किसी ने नहीं दिया। शंकराचार्य द्वारा अद्वैतवाद की प्रतिष्ठापना के बाद कई भक्ति-आंदोलन उठे और ज्ञान योग पर छा गये। सबसे पहले रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के ईश्वरवादी दर्शन और शैवसिद्धांत दर्शन आये। उनके बाद, पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में, उत्तर भारत में परवर्ती भक्ति-आंदोलनों को इस्लामी ईश्वरवाद और प्रचार के सम्मुख दृढ़ता की मुद्रा अपनानी पड़ी। उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज आंदोलन भी ईसाई ईश्वरवाद की टक्कर में एकांतिक रूप से ईश्वरवादी थे। बाद में, हिंदू धर्म के सभी पक्षों का पुनरुत्थान होने पर भी, श्री रामकृष्ण परमहंस ने इस पर जोर दिया कि आज की दुनिया में भक्ति ही सब से सरल मार्ग है। इस प्रकार ग्यारह शताब्दियों तक उन्मुक्त बहती आयी भक्ति की इस विराट मुख्य धारा के प्रतिकूल श्री रमण महर्षि की शांत नग्न मूर्ति एक चट्टान की तरह खड़ी दिखती है। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में भक्ति का जो स्थान है, उसे

वे जानते नहीं थे। इसके विपरीत, जिस प्रकार शंकराचार्य ने ज्ञान-मार्ग के प्रतिष्ठापक होते हुए भी कई भावविह्वल स्तोत्र रचे, उसी प्रकार महर्षि ने भी अरुणाचल शिव की स्तुति में पांच स्तोत्रों की रचना की। और हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि एक स्तोत्र में तो उन्होंने शृंगारिक भक्ति के सुपरिचित बिंब, वर-वधु का प्रयोग किया है। परंतु, फिर भी, वे निरंतर 'विचार' मार्ग का ही प्रतिपादन करते रहे, जो ज्ञान योग की पुनः-स्थापना के लिए एक सशक्त तर्क था। अपने युग की भावना के अनुरूप, उन्होंने केवल ज्ञान योग को उस विशिष्ट धर्म की सीमाओं से ऊपर उठा दिया जिसमें उनका जन्म हुआ था, और उसे सभी धर्मों के लोगों के लिए सुलभ कर दिमा।"

जिमर-रचित **फ़िलासफ़ीज़ ऑव इंडिया** के परिशिष्ट में जो समय-सारणी है उसके अनुसार, श्री रामकृष्ण (1836-86) डार्विन के सम-कालीन हैं और श्री रमण आइंसटाइन के। यह बात विचारणीय है कि महापुरुषों के इन जोड़ों में केवल काल की ही समानता नहीं है, अपितु उपलब्धि और ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से भी काफी समानता है। जिस प्रकार परमहंस ने मनुष्य की आध्यात्मिकता के समस्त विकास-क्रम को सार रूप में मूर्तिमान् किया और उसकी संक्षेप में पुनरावृत्ति की, उसी प्रकार महर्षि ने, एक वैज्ञानिक आविष्कर्ता की तरह, सत्य के अति गहन आयामों का स्वयं नये सिरे से अन्वेषण किया और हमारे लिए 'आत्म-विचार' की एक ऐसी परिपूर्ण विधि तैयार कर दी जिससे और लोग भी उनके प्रयोग को दोहरा सकते हैं और उनके निष्कर्षों की सचाई को प्रत्यक्ष अनुभव से परख सकते हैं।

परमात्म-शक्ति कहां प्रकाशित होगी यह तो उसी की इच्छा पर निर्भर है। जैसा कि उपनिषद की प्रसिद्ध सूक्ति में कहा गया है, आत्मा उसी को उपलब्ध होती है जिसका वह स्वयं वरण करती है। जीवन्मुक्ति

की प्रक्रिया का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। फिर भी कमल की उत्पत्ति में सर्वशक्तिमान सूर्य के साथ-साथ सरोवर का भी थोड़ा योगदान मानना पड़ता है, मानना चाहिए। आत्मोपलब्धि के बारे में न तो कोई भविष्यवाणी की जा सकती है और न वह पैदा ही की जा सकती है, यह सही है। परंतु उसके घटित हो जाने के बाद, शायद उसके कार्य-कारण सूत्र को स्पष्ट किया जा सकता है। श्री रामकृष्ण में जिस तरह बंगला संस्कृति अपने पूर्ण भावावेश के साथ प्रस्फुटित हुई है, महात्मा गांधी में जिस तरह गुजराती संस्कृति अपनी वस्तुनिष्ठ व्यावहारिकता के साथ प्रस्फुटित हुई है, श्री रमण उसी तरह वह सुमन हैं जिसमें तमिल संस्कृति अपनी प्रखर बौद्धिक सूक्ष्मता के साथ प्रस्फुटित हुई है। यह उल्लेखनीय है कि इस आधुनिक युग में भी मां काली की उपासना से श्री रामकृष्ण गहन रहस्यात्मक अनुभूति पर पहुंचे, राम के निरंतर स्मरण से गांधीजी को सार्वजनिक क्षेत्र और व्यक्तिगत जीवन, दोनों में धर्म के पालन के लिए बल और मार्गदर्शन मिला, और शिव के ससर्ग से किशोर छात्र रमण को मृत्यु का साक्षात्कार और आत्मोपलब्धि हुई। यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन ऋषियों ने भक्ति, कर्म, योग और ज्ञान के जो चार मुख्य मार्ग निर्धारित किये थे उनका इतना जीवंत और प्रभावशाली निरूपण इस देश की चार अर्वाचीन आध्यात्मिक विभूतियों : श्री रामकृष्ण, गांधी जी, श्री अरविंद और महर्षि ने किया।

महर्षि के जीवन से संबद्ध स्थान स्वयं पुनीत स्मृतियों से भरे हैं। तिरुचुली शिव की पावन भूमि थी और सुंदरमूर्ति और माणिक्यवाचकर जैसे संतों ने कई शताब्दी पूर्व इसकी महिमा गायी थी। विनोबा भावे छठे दशक की अपनी भूदान पदयात्रा में, अपनी राह से अलग कई मील की दूरी तय कर, यहां पहुंचे थे। जिस घर में महर्षि का जन्म हुआ था उसमें कुछ देर वे मौन ध्यानरत बैठे रहे और अपने प्रार्थना-प्रवचन में उन्होंने इस कस्बे

के भले लोगों को आशीर्वाद देते हुए कहा कि महर्षि के रूप में आपने आधुनिक जगत को एक अनुपम उपहार दिया है।

मदुरै, जहां वेंकटरमण को आत्मोपलब्धि हुई, प्राचीन तमिल विद्वत्परिषदों की प्रख्यात पीठ थी, मीनाक्षीसुंदर शिव की लीलाभूमि थी। यह एक शक्तिपीठ भी है जहां मां भगवती स्वयं विराजमान हैं। भजनों और अनुष्ठानों में यहां भक्तों और भगवान के मिलन का बखान मिलता है, और यहां के मंदिर में त्रेसठ संतों की मूर्तियां हैं जिन्हें कोई भी देख सकता है। यहां मंदिर की छाया में बालक रमण को मां की गोद की-सी शांति मिलती थी। परंतु अरुणाचल की पुकार पर वह इस प्रकार दौड़ पड़ा जैसे पिता की बांहों की ओर दौड़ रहा हो।

संस्कृत के महाकवि, गणपति शास्त्री और तमिल के महाकवि मुरुगनार ने अपने गीतों में रमण महर्षि की स्कंद रूप में स्तुति की है। जिस प्रकार छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार नारद ने सनत्कुमार से अज्ञात अंधकार के पार की ज्योति का दर्शन करानेवाली 'भूमा विद्या' सीखी थी, उसी प्रकार इन प्रकांड पंडितों ने इस तरुण साधु से इंद्रियातीत ज्ञान प्राप्त किया जो उन्हें किसी भी ग्रंथ में नहीं मिला था। शंकराचार्य के 'सुब्रह्मण्य भुजंगम्' में वर्णन है कि शिव ने कुमार से कहा, 'इधर आओ, वत्स' और जब वह माता की गोद से उछला तो किस प्रकार उन्होंने हाथ बढ़ाकर उसे लपक लिया और अपने हृदय से लगा लिया। गणपति शास्त्री ने रमण के गृहत्याग को इसी दृश्य की पुनरावृत्ति कहा है। किशोर रमण 'पिता की पुकार पर' माता के घर, मदुरै से तन्मयावस्था में पिता के पास, अरुणाचल को चल दिये। स्कंद में शिव (सत्) और शक्ति (चित्) का संयोग है और वह नित्य-नूतन आनंद की मूर्ति है। महर्षि ने 'हृदय' और 'पुत्र' दोनों के लिए बार-बार गुहेश नाम का प्रयोग किया है। सोमस्कंद—'पिता', 'माता' और 'पुत्र' के इस रहस्य को मानव हृदय और मानव जीवन में हजारों तरह

से उद्घाटित करते हुए, महर्षि मोक्ष के साधकों का उसी तरह अचूक पथप्रदर्शन करते हैं जैसे कि गांधीजी, राम-सेवक आधुनिक हनुमान् की अपनी भूमिका में, उन सब लोगों का जिनमें धर्म की जिज्ञासा है और जो उसका पालन करना चाहते हैं।

वह स्थान जहां रमण 1 सितंबर 1896 को पहुंचे और जहां वे चौवन वर्ष रहे, अरुणाचल या तिरुवण्णामलै था, जिसके बारे में एक प्राचीन धारणा यह है कि उसके चिंतन से ही मुक्ति मिल जाती है। भारत और नेपाल के बहुत-से तीर्थों में शिव जहां लिंग या मूर्ति के रूप में प्रकट हुए हैं, वहां यहां यह विश्वास है कि वे पर्वत के रूप में प्रकट हुए हैं। कथा यह है कि एक बार शिव इस स्थान पर एक प्रकाश-स्तंभ के रूप में प्रकट हुए थे जिसके शिखर और आधार को खोजने की ब्रह्मा और विष्णु ने कोशिश की पर वे उन्हें दिखाई नहीं दिये। इस प्रकार यह पर्वत मूर्तिमान् शिव है, विशुद्ध इंद्रियातीत बोध का प्रतीक, और ज्ञान के पिपासुओं के लिए एक विशेष अर्थ और संदेश का वाहक।

2. आरंभिक जीवन और बोधोदय

वेंकटरमण का जन्म 29-30 दिसंबर, 1876 की अर्धरात्रि के कुछ बाद मार्गशीर्ष मास के पुनर्वसु नक्षत्र में हुआ था। पिता, सुंदरम् अय्यर तिरुचुली में वकील थे और मां का नाम अलगम्माल था। प्रारंभिक शिक्षा उन्होंने तिरुचुली में ही पायी, फिर डिंडिगल जाकर एक साल वहां के मिडिल स्कूल में पढ़ते रहे। 1892 में अचानक पिता की मृत्यु हो जाने पर वेंकटरमण और उनके बड़े भाई नागस्वामी को उनके चाचा सुब्ब अय्यर मदुरै ले गये। छोटे दो बच्चे, नागसुंदरम् और अलमेलु, मां के साथ, अपने ताऊ नेल्लैयप्प अय्यर के पास रहने मानमदुरै चले गये। कुछ समय बाद वेंकटरमण मदुरै के अमरीकी मिशन हाई स्कूल में दाखिल हो गये। पढ़ाई के लिए उनमें कोई विशेष लगन नहीं थी, पर उनकी बुद्धि तेज और स्मृति बहुत अच्छी थी, इसलिए एक के बाद दूसरी क्लास में चढ़ते गये। आध्यात्मिकता की ओर झुकाव का उन दिनों उनमें कोई विशेष लक्षण नजर नहीं आता था। शरीर से हृष्ट-पुष्ट रमण की खेलों में बहुत रुचि थी और कुश्ती व तैराकी की बाजियों में वह प्रायः विजयी रहता था। गहरी नींद में सोये रमण को जगाना मुश्किल होता था। (स्कूल के दिनों के उनके घनिष्ट मित्रों में एक अब्दुल वहाब थे, जिन्हें प्यार से लोग साबजान कहते थे। वे उनके साथ केवल खेलों में ही भाग नहीं लेते थे, बल्कि मंदिरों में भी जाते थे और तिरुचुलीवाले घर में उनकी बड़ी आवभगत होती थी। बाद में, पुलिस सर्विस में चले जाने के बाद, वे प्रायः अपने पुराने मित्र—

महर्षि—से मिलने आते थे) रमण घर के काम-काज में अपनी चाची का हाथ बंटाते रहते थे—गली के उस पार से वे पानी का कलसा भर कर ला देते थे। वर्षों बाद, एक भक्त के प्रश्न का उत्तर देते हुए, उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि शुरू में उनकी मां को इस बात से दुख पहुंचा था कि बिना बाप के इस लड़के से ऐसे काम कराये जाते हैं। पर एक बार, जब वह मदुरै आई हुई थीं, उन्हें लगा कि पानी का भरा कलसा वह उठा नहीं सकेंगी, और उन्होंने वेंकटरमण से उसे ले चलने को कहा। तब रमण ने हंसते हुए कहा, "चाची जब कहती थी तब तो तुम्हें बुरा लगता था। अब तुम क्या कर रही हो?" वेंकटरमण छोटे-मोटे घरेलू कामों में भी निपुण थे और उन्हें 'थंगक्कै' (स्वर्णहस्त), अर्थात् सौभाग्यशाली हाथों वाला माना जाता था। 'अप्पलम्' (पापड़) आदि बनाने का शुभारंभ प्रायः उन्हीं से करवाया जाता था।

नवंबर, 1895 में उनके एक वयोवृद्ध संबंधी ने बातचीत के प्रसंग में बताया कि वे अभी अरुणाचल होकर आये हैं। इस नाम से वेंकटरमण में बचपन से ही एक अनिर्वचनीय श्रद्धा और प्रेम का उद्रेक होने लगता था। अब पहली बार उन्हें पता चला कि अरुणाचल तो तिरुवण्णामलै है, जो सचमुच एक जगह है और पास ही है।

कुछ समय बाद ही, 'पेरियपुराणम्' की एक प्रति कहीं से उनके हाथ लग गयी। उसमें शिव की कृपा प्राप्त करनेवाले त्रेसठ संतों की कथाएं पढ़ कर वे आनंदविभोर हो गये।

वह महान घटना जो वेंकटरमण के जीवन में और स्वयं को पहचानने की आज के मनुष्य की खोज में एक नया मोड़ सिद्ध हुई, जुलाई, 1896 में संभवतः बृहस्पतिवार 16 जुलाई (शुक्ल पक्ष की षष्टी) को घटी, जिसके कोई छह सप्ताह बाद ही उन्होंने मदुरै से सदा के लिए विदा ले ली। उस दिन अपने चाचा के घर (मंदिर के निकट, 11, चोक्कप्प नाइकेन स्ट्रीट)

में पहले तल्ले पर वे अकेले बैठे थे। वे पूर्ण स्वस्थ थे, पर फिर भी न जाने क्यों अचानक मत्यु की आशंका से भयभीत हो उठे। इससे उनका मन अंतर्मुख हो गया और उनमें कुछ इस तरह की उहापोह होने लगी :"मैं अब मर रहा हूं। मृत्यु का अर्थ क्या है? यह जो मर रहा है क्या है? यह देह मर रही है।" मरने का अभिनय करते हुए, उन्होंने अपने हाथ-पांव फैला कर अकड़ा लिये, सांस रोक ली और मुंह भींच लिया। ऊहापोह चुपचाप चलती रही :"अच्छा तो, देह मर गयी है। अकड़ी हुई इस देह को श्मशान ले जाया जायेगा और वहां जलाकर भस्म कर दिया जायेगा। लेकिन क्या 'मैं' मर गया? क्या देह 'मैं' है? देह तो नि:शब्द और निश्चेष्ट है, पर मुझे अपना अस्तित्व पूरी शक्ति के साथ महसूस हो रहा है, यहां तक कि भीतर 'मैं' का स्फुरण भी सुनाई देता है। अत: मैं वह चेतना हूं जो देह से परे है। 'मैं' नित्य आत्मा हूं।" यह सब ऊहापोह कोई बौद्धिक क्रिया नहीं थी, अपितु विशुद्ध 'मैं हूं' की चेतना की जीवंत अनुभूति थी, जिसमें से वे अंदर ही अंदर नि.शब्द गुजरे थे।

मृत्यु के इस सजीव अभिनय को, जिसने एक किशोर छात्र को सिद्ध-पुरुष में बदल दिया, पौराणिक, तात्त्विक और नैतिक दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। धर्म के प्रतिपालक विष्णु ने, वात्सल्यमयी मां की तरह, गजेंद्र को आसन्न मृत्यु से बचाया था और वह उनका परम भक्त बन गया था। पर इस पौराणिक कथा से भी अधिक सटीक शंकराचार्य का उदाहरण है। इंद्रियातीत बोध के अधीश्वर, परमपिता शिव ने शंकराचार्य को मगर के मुंह से छुड़ाया और उन्हें एक मूर्धन्य दार्शनिक में बदल दिया। इसी प्रकार किशोर वेंकटरमण ने देह के अन्त को शांति से स्पष्ट स्वीकार करते हुए अपनी अंतर्तम सत्ता को शुद्ध चेतन के रूप में पाया, और इस तरह मृत्यु के भय को सदैव के लिए जीत लिया। मानव-जीवन जी यातना और मृत्यु पर बुद्ध का दीर्घकालीन चिंतन इस अकेले अनुभव में समाविष्ट था।

शैक्सपियर के शब्दों में, उन्होंने "मृत्यु को, जो मनुष्यों को खाती है, खा लिया और मृत्यु के मर जाने से और कोई मृत्यु शेष नहीं रही।" चेतन के साथ पूर्ण तादात्म्य और तन-मन के व्यूह से अनासक्ति की इस चरम अनुभूति से उनके लिए न केवल सत्ता-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा के बीच की कृत्रिम दीवार ढह गयी, बल्कि सभी को गले लगानेवाले प्रेम का एक बारहमासी सोता फूट पड़ा, नैतिक शक्ति का एक नित्य-नूतन अजस्र निर्झर झरने लगा, ऐसा निर्झर जो उसके बाद कोई अर्ध शताब्दी तक सबके साथ समान व्यवहार द्वारा आत्मा का 'एकत्व' सिद्ध करता रहा।

उसी घड़ी से वे निरंतर आत्मलीन रहने लगे। जैसा कि उन्होंने सूरि नागम्मा, स्वामी सिद्धेश्वरानंद, प्रोफेसर डी. एस. शर्मा आदि अनेक जिज्ञासुओं को कई बार बताया, संगीत के विभिन्न स्वरों की तरह अन्य विचार यदा-कदा आते-जाते थे, परंतु आत्मा-चेतना का स्फुरण मूल स्वर (आधार-श्रुति) की तरह निरंतर बना रहता था और अन्य स्वरों को उससे संगति रखनी पड़ती थी।

मृत्यु से साक्षात्कार की यह पूरी प्रक्रिया कुल तीस मिनट भी नहीं चली होगी। पर इससे न केवल किशोर रमण के जीवन का सदा के लिए काया-कल्प हो गया, बल्कि 'मैं कौन हूं ?' इस प्रश्न के रूप में उसे एक ऐसा अस्त्र भी मिल गया जो सुलभ था, अचूक था और सभी प्रयोजन पूरे कर देता था।

इस घटना के बाद वेंकटरमण पर आत्मलीनता के अधिकाधिक दौरे पड़ने लगे और पढ़ाई-लिखाई मात्र यांत्रिक रह गयी। दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में वह और भी सौम्य और विनम्र हो गया। मंदिर के अब ज्यादा चक्कर लगने लगे और भावावेश बढ़ गया। पेरियपुराणम् की कथाओं और मंदिर में देखी त्रेसठ 'नायनारों' की मूर्तियों में अब उसे एक नया अर्थ मिल रहा था। वर्षों बाद उन दिनों का स्मरण करते हुए उन्होंने कहा

था :"नये जीवन में जागरण के बाद, मैं प्राय: रोज ही शाम को मंदिर जाने लगा। मैं अकेला जाता और शिव, मीनाक्षी, नटराज या त्रेसठ संतों की मूर्तियों के सम्मुख बहुत-बहुत देर खड़ा रहता। मुझे लगता भावनाओं की तरंगें मुझे विभोर कर रही हैं। आत्मा ने देह का अपना पहला अवलंब छोड़ दिया था और वह एक नये अवलंब के लिए लालायित थी, इसीलिए मैं बार-बार मंदिर जाता था। मैं भगवान शिव के सम्मुख खड़ा हो जाता और कभी-कभी उनसे प्रार्थना करता, मुझ पर अपनी कृपा बरसाओ, जिससे कि मेरी भक्ति बढ़े और मैं त्रेसठ संतों की तरह सदा तुम्हारा भक्त रहूं। पर, अधिकतर तो मैं कोई भी प्रार्थना नहीं करता था, बल्कि अपने अंतर के अगाध को बहने और बाहर के अगाध में मिलने देता था। मेरी आंखों से उमड़ते आंसू आत्मा के इसी ज्वार के द्योतक होते थे, सुख या दुख की किसी विशेष अनुभूति के नहीं।" यह पूछने पर कि क्या वे मोक्ष अथवा नाना जन्मों के चक्र से मुक्ति की प्रार्थना करते थे, उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं यह प्रार्थना करता था कि मुझे उनकी-सी भक्ति मिले। जन्मों के बंधन या उनसे मुक्ति के बारे में तो मैं कुछ जानता ही नहीं था।"

छठी कक्षा का यह छात्र 29 अगस्त, 1896 को सुबह के वक्त अपने घर में बैठा 'बेन' की इंग्लिश ग्रामर के एक अंश को अपनी कापी में उतार रहा था। उस अंश को तीन बार लिखने की उसे स्कूल से सजा मिली थी। दो बार लिख चुकने के बाद मजबूरी में किये जानेवाले उस काम से वह ऊब गया, उसने किताब-कापी एक तरफ सरका दीं, आंखें बन्द कर लीं और ध्यान करने लगा। बड़ा भाई, जो यह सब देख रहा था, उसे डांटते हुए बोला, "परिवार के बीच रहते हो, पढ़ाई का ढोंग करते हो, और बैठे हो ऐसे जैसे कोई योगी हो।" वेंकटरमण को बस संकेत मिल गया और उसने वहीं उसी घड़ी घर छोड़ने और अरुणाचल जाने का निश्चय कर लिया।

अपने भाई से उन्होंने कहा, "मुझे स्कूल जाना है क्योंकि आज एक विशेष

'क्लास' लगनी है।" इस पर भाई बोले, "तब नीचे बक्से में से पांच रुपये ले आना और रास्ते में मेरी कालेज की फीस दे देना।" इस घटना को याद करते हुए, 1949 में, महर्षि ने इस बात पर दुख प्रकट किया था कि परिवार को सदैव के लिए छोड़ते समय चाची से मुझे सच्चाई छिपानी पड़ी। उसका मुझ पर बहुत विश्वास था, क्योंकि मैं हर काम उसकी इच्छानुसार करता था और कभी भी झूठ नहीं बोलता था। झूठ मुझे बस यही एक बार बोलना पड़ा—यहां आने के लिए घर से भागते समय भाई ने जब पूछा, कहां जा रहे हो, तो मैंने उन्हें बताया कि स्कूल में एक विशेष 'क्लास' है जिसमें मुझे जाना है। भोजन के बाद जब मैंने चाबी मांगी तो चाची को भी यही बताया। वह जान ही कैसे सकती थी ? उस बेचारी ने मेरे कहे पर यकीन कर लिया। आखिर यही होना था।"

वेंकटरमण का ख्याल था कि तिरुवण्णामलै जाने में तीन रुपये लगेंगे। इसलिए उसने उतने ही लिए और बाकी दो रुपये तमिल में लिखे एक पत्र के साथ वहीं छोड़ दिये। पत्र का आशय था : "मैं अपने 'पिता' की खोज में जा रहा हूं और उन्हीं के आदेश पर जा रहा हूं। इस कार्य पर कोई दुखी न हो और इसको ढूंढ़ने के लिए कुछ भी खर्च न किया जाय। आपकी कालेज की फीस नहीं दी गयी है। दो रुपये इसके साथ रखे हैं।" उसकी मनःस्थिति उस समय क्या थी, यह इसीसे समझा जा सकता है कि अपने लिए उसने 'इसको' लिखा था और पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये थे।

दोपहर से कुछ पहले वह घर से चल पड़ा और ठीक रेल के वक्त स्टेशन पहुंच गया। उसने थिंडिवनम् का टिकट खरीदा, क्योंकि उसके ख्याल से तिरुवण्णामलै के सबसे निकट वही स्टेशन था। इस पर दो रुपये तेरह आने खर्च आये। उसे पता नहीं था, पर एक नयी लाइन भी चालू हो चुकी थी, जिससे विल्लुपुरम् पर गाड़ी बदल कर ही तिरुवण्णामलै पहुंचा जा सकता था और उसमें पूरे तीन रुपये लगते। रेल में चढ़ जाने के बाद एक मुसल-

मान यात्री—एक मौलवी ने, जो उससे बातचीत करने लगा था, उसे उसकी गलती बतायी और सलाह दी कि वह विल्लुपुरम् पर ही उतर जाये।

विल्लुपुरम् से माबलपट्टु तक, दस मील वह रेल से गया। पास में जो पैसे बचे थे उनसे सिर्फ वहीं तक का टिकट लिया जा सकता था। वहां से किलूर तक, कोई दस मील वह पैदल चला। जब बहुत थक गया और आगे और चलना कठिन हो गया तो बीस मील का बाकी सफर उसने फिर रेल से तय करने का निश्चय किया। गांठ में पैसा न होने के कारण, उसने लाल नग-जड़ी अपनी कान की लौंगें मुतुस्वामी भागवतर नाम के एक व्यक्ति के पास चार रुपये में गिरवी रख दीं। उसकी पत्नी ने उसे अच्छी तरह भोजन कराया और गोकुलाष्टमी पर भगवान कृष्ण के निमित्त बनाया गया कुछ मिष्ठान बांधकर दे दिया। परंतु वेंकटरमण ने स्टेशन पर पहुंचने से पहले ही भागवतार की दी हुई रसीद फाड़ डाली, क्योंकि कान की लौंगों को छुड़ाने का उसका कोई इरादा नहीं था।

पहली सितंबर को बहुत सवेरे तिरुवण्णामलै पहुंचते ही वह सीधा श्री अरुणाचलेश्वर के मंदिर गया और अपने 'पिता' के सम्मुख जाकर खड़ा हो गया। उसके आनंद का प्याला लबालब भरा था। जो ज्वर कई दिन से उसके शरीर को तपा रहा था वह अब उतर गया था। यात्रा समाप्त हो गयी थी और वह अपने 'घर' पहुंच गया था।

3. समाधि के साल और नये घाट

मंदिर से बाहर आकर किशोर रमण ने सिर घुटवा लिया और अपनी सभी चीजें—यज्ञोपवीत, गांठ की रकम (लगभग तीन रुपये), मिष्ठान का पैकेट और तन के कपड़े तक फेंक दिये। केवल धोती में से एक पट्टी फाड़ कर रख ली और उसकी कोपीन बना ली। इस प्रकार सब-कुछ त्याग कर वह फिर मंदिर की ओर चल पड़ा। रास्ते में वर्षा की तेज बौछार में भीग कर और स्वच्छ होकर वह वहां पहुंचा और मंदिर के सहस्र खंभोंवाले मंडप में जाकर जम गया। कई सप्ताह उसने वहां निश्चल मौनावस्था में बिताये। उन दिनों जिन्होंने उसकी देखभाल की उनमें एक शेषाद्रि स्वामी थे। वे एक विद्वान साधु थे जिनकी साधना काफी उच्च स्तर पर पहुंच चुकी थी। परंतु शरारती लड़के जब दोनों को तंग करने लगे तो ब्राह्मण स्वामी ने, इस किशोर साधु का अब यही नाम पड़ गया था, मंडप के नीचे के तलघर 'पाताल लिंग' में शरण ली। वहां चीटियां, कीड़े और मच्छर कई सप्ताह उन्हें काटते-खाते रहे, पर वे आत्मानंद में डूबे निश्चल पड़े रहे। उस तलघर को बाद में उन्हीं के निमित्त अर्पित कर दिया गया और मई, 1949 में तत्कालीन गवर्नर-जनरल, श्री राजगोपालाचारी ने वहां रमण महर्षि के चित्र का अनावरण किया। दर्शनार्थियों के लिए यह स्थान मंदिर में अब विशेष महत्व रखता है।

तलघर में ब्राह्मण स्वामी के होने की बात जब कुछ भक्तों को पता चली तो उन्होंने देखा कि उनके घावों में कीड़े चल रहे हैं और उनसे पीप बह

रही है, पर उन्हें अपनी भयानक दशा की कोई सुध नहीं है। उन्हें तब पास के देवालय, 'गोपुरम् सुब्रह्मण्यर' के मंडप में पहुंचाया गया जो पत्थर का बना था। उसके बाद तो ब्राह्मण स्वामी को कुतूहली दर्शकों की भीड़ से बचाने के लिए कस्बे के बाहरी भाग के विभिन्न देवालयों और कुंजों में ले जाना पड़ा और साधु, नगर के भक्तजन, मंदिर के कर्मचारी आदि अनेक भले लोग बारी-बारी से उनकी देखभाल करते रहे। इन कई महीनों में वे इतने समाधिस्थ रहे कि दुनिया के लिए एक तरह से मर चुके थे। दिन में एक बार थोड़ा भोजन और पानी देने के लिए भी, जो कुछ भक्तजन उनके लिए ले आते थे, उन्हें कंधों से जोर से झकझोरना पड़ता था। तभी जाकर वे कहीं उसे देख पाते थे और ग्रहण कर पाते थे। वर्षों बाद उन दिनों को स्मरण करते हुए महर्षि ने बताया कि तिरुवण्णमलै आने के बाद उन्हें पहला स्नान चार महीने बाद एक भक्त ने जबर्दस्ती कराया था, जो उन पर माता का-सा स्नेह रखता था। और एक वर्ष बाद जब वे 'गुरुमूर्तम्' में थे, ऐसे ही एक और भक्त ने उन्हें दूसरी बार स्नान कराया। इसी तरह कोई अठारह महीने तक न तो उनके सिर के बाल कटे और न हजामत ही बनी। कई साल बाद नागम्मा से उन्होंने कहा था :"बाल उलझकर इस तरह गुंथ गये थे कि उनकी एक डलिया-सी बन गयी थी। उनमें धूल भरी थी, कंकर फंसे थे और सिर बहुत भारी लगता था। मेरे नाखून लंबे हो गये थे और रूप भयानक दिखता था। इसीलिए लोगों ने हजामत के लिए बहुत जोर डाला और मुझे उनकी बात माननी पड़ी। सिर जब बिलकुल घुट गया तो वह इतना हल्का लगा कि मुझे शक होने लगा कि सिर है भी या नहीं, और मन को यकीन दिलाने के लिए मैंने उसे इधर-उधर हिलाकर देखा।"

1897 के आरंभ में लोग ब्राह्मण स्वामी को गुरुमूर्तम् ले गये, जहां ये कोई 19 महीने रहे। यह मठ मन्दिर से काफी दूर था। यहां वातावरण बहुत ही शांत था। ये बराबर समाधिस्थ रहते थे और इनकी देखभाल

मुख्यतया उद्दंड नायनार नामक एक साधु और उसका मित्र अण्णामलै तंबिरान करते थे। उनमें से कोई एक भोजन ले आता था जिसे ये केवल एक बार दोपहर को लेते थे, और जब भी ये दोनों संरक्षक बाहर जाते थे तो इन्हें ताले में बंद कर जाते थे। एक बार तंबिरन की भक्ति इतनी उमड़ी कि दोपहर को भोजन देने से पहले उसने ब्राह्मण स्वामी की पुष्प, धूप, कर्पूर आदि से पूजा करने का निश्चय कर लिया। सारी तैयारियां कर चुकने के बाद जब वह कुछ देर को बाहर गया तो महर्षि की उन चीजों पर नजर पड़ी और उसका आशय जानकर उन्होंने कोयले से दीवार पर तमिल में कुछ शब्द लिख दिये जिनका भाव था कि भोजन कराना ही पर्याप्त सेवा है। कुछ दिन बाद अन्य भक्तों ने जब उनका नाम और निवास-स्थान जानने के लिए बहुत आग्रह किया तो उन्होंने अंग्रेजी में 'वेंकटरमण, तिरुचुली' ये दो शब्द लिख दिये। तभी पहली बार लोगों को यह संकेत मिला कि जंगली-सा दिखनेवाला यह लड़का पढ़ा-लिखा है और अंग्रेजी जानता है।

इस किशोर साधु की देख-भाल की जिम्मेदारी शीघ्र ही पलणि स्वामी नाम के एक मलयाली साधु ने ले ली। वह दूर के एक देवालय में विनायक की मूर्ति की पूजा किया करता था कि कुछ भक्त उसे 'जीते-जागते ईश्वर' के दर्शन कराने गुरुमूर्तम् ले आये। पलणि स्वामी ने विनायक की पूजा की तो और व्यवस्था कर दी और आप पूर्ण रूप से ब्राह्मण स्वामी की सेवा में जुट गया। बीस वर्ष से भी अधिक तक वह उनकी बराबर सेवा-शुश्रूषा करता रहा।

इस बीच मदुरै और मान मदुरै में वेंकटरमण के घरवालों को उसकी कोई खबर नहीं मिली। कोई पौने दो साल तक कई स्थानों पर बड़ी बेचैनी से पूछ-ताछ और खोज की जाती रही, पर उनका कोई सुराग नहीं मिला। 1 मई, 1898 को मदुरै में सुब्ब अय्यर का देहांत हो जाने के कुछ दिन

बाद ही अचानक उसका पता चला। अलगम्माल और उनके जेठ नेलैयप्प अय्यर, सुब्ब अय्यर की अंत्येष्टि में सम्मिलित होने के लिए मानमदुरै से मदुरै आये हुए थे। संयोग से उन्हीं दिनों अण्णामलै तंबिरान भी, जिन्हें गुरुमूर्तम् में किशोर साधु के नाम और निवास-स्थान का पता चल गया था, मदुरै आये। एक धार्मिक प्रवचन में उन्होंने अपने पास बैठे एक युवक से तिरुचुली के वेंकटरमण की चर्चा करते हुए कहा कि वह अब तिरुवण्णामलै का एक प्रसिद्ध संत है। वह युवक इस परिवार के मित्रों में से था, इसीलिए तुरंत सीधा स्वर्गीय सुब्ब अय्यर के घर पहुंचा, नेलैयप्प अय्यर और अलगम्माल से मिला और जो कुछ उसने सुना था वह उन्हें बता दिया।

नेलैयप्प अय्यर तत्काल तिरुवण्णामलै के लिए रवाना हो गये और गुरुमूर्तम् मठ से सटे उस आम्रकुंज में पहुंच गये जहां अब ब्राह्मण स्वामी और उनका श्रद्धालु अनुचर, दोनों रहने लगे थे। कुंज के मालिक ने ही इन्हें यहां बुला लिया था और ये कुंज में बने दो सायबानों में रह रहे थे। वेंकटरमण को पहचानना मुश्किल था—रूखे उलझे बाल, लंबे-लंबे नाखून और अस्तव्यस्त रूप। परंतु दायें पैर के तलुए का वह हल्का मस्सा निःसंदेह वेंकटरमण का ही था। नेलैयप्प अय्यर ने उनसे घर लौटने का बड़ा अनुरोध किया, पर सब बेकार रहा, क्योंकि किशोर साधु अपना मौन तोड़ने को ही तैयार न था। अपने ताऊ के इस आगमन के बारे में रमण महर्षि ने कई वर्ष बाद नागम्मा से कहा था :"सुब्ब अय्यर अगर होते तो वे मुझे ले जाये बिना कभी वापस नहीं जाते। वे तो मुझे गठरी बना जबर्दस्ती उठाकर ले जाते। सुब्ब अय्यर बड़े साहसी और गर्वीले थे। पर यह भला आदमी वहुत ही विनम्र और सौम्य था। भवितव्य यही था कि मैं यहां रहूं, इसीलिए सुब्ब अय्यर जब तक जीवित रहे मेरा पता नहीं चला। नेलैयप्प अय्यर आध्यात्मिक प्रवृत्ति के सौम्य व्यक्ति थे। इसीलिए वे यह कह कर

चले गये, "इसे क्यों तंग किया जाय?" पर नेलैयप्प अय्यर जब मदुरै लौटे तो बड़े दुखी थे। आम्रकुंज से चलने के बाद रास्ते में उन्हें एक पंडितजी मिले थे जो अपना धार्मिक प्रवचन बस समाप्त ही कर रहे थे। चिंताग्रस्त ताऊ ने उनसे ब्राह्मण स्वामी के बारे में उनकी राय पूछी। वह राय कोई संतोषजनक नहीं थी : "वह लड़का जो वहां बैठा है, बेपढ़ा-लिखा है और उसका दर्शन अधकचरा है।" लेकिन नेलैयप्प अय्यर जब तीसरी बार आये तब ब्राह्मण स्वामी विरूपाक्ष गुफा में थे। वे चुपचाप अंदर आ गये और उन्होंने तरुण उपदेशक को शंकराचार्य के **दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र** की व्याख्या करते देखा। तब उन्हें पता चला कि उनके भतीजे की साधना कितनी बढ़ गयी है और उनकी चिंता जाती रही। वह उनका अंतिम आगमन था, क्योंकि उसके कुछ दिन बाद तो उनकी मृत्यु ही हो गयी।

गुरुमूर्तम् मठ और उससे सटे आम्र कुंज में 19 मास रहने के बाद ब्राह्मण स्वामी 1898 के उत्तरार्ध में अरुणगिरिनाथ देवालय में आ गये। वे अकेले रहना चाहते थे, इसलिए पलणि स्वामी को उन्होंने सलाह दी, "आप अपनी राह पकड़िए।" पर, वह निष्ठावान शिष्य शाम को ही उनके पास ऐसे वापस आ गया जैसे बछड़ा अपनी मां के पास वापस आ जाता है। इस देवालय में एक मास ब्राह्मण स्वामी ने भिक्षुक की तरह बिताया और तिरुवण्णामलै की गलियों में भीख मांगी। वे किसी भी घर के आगे खड़े हो जाते और ताली बजाते। अगर भोजन मिलता तो वे उसे दोनों हाथों से ले लेते और वहीं सड़क पर खड़े-खड़े ही खा लेते। एक घर से वे दूसरी बार भीख नहीं मांगते थे और हर रोज नयी गली में जाते थे। बहुत समय बाद उन दिनों को, जबकि वे खुद भीख मांगा करते थे, याद करते हुए रमण महर्षि ने एक भक्त से कहा था : "इस तरह भीख मांगना मुझे कितना भव्य और गरिमामय लगता था, तुम कल्पना नहीं कर सकते। पहले दिन जब मैंने गुरुकल की पत्नी से भीख मांगी तो मुझे जरूर शर्म

लगी थी, पर वह बचपन में सीखी आदतों का परिणाम थी। लेकिन उसके बाद फिर कभी मुझे उसमें कोई अपमान महसूस नहीं हुआ। मैं अपने को महाराजा और महाराजा से भी बड़ा अनुभव करता था। कभी-कभी मुझे किसी घर से बासी दलिया मिलता और मैं उसे, नमक या कोई और मसाला मिलाये बगैर, वहीं सड़क पर, उन पंडितों और अन्य बड़े लोगों के सामने पी लेता जो मेरे पास प्रायः आया करते थे और मुझे दंडवत प्रणाम किया करते थे। उसके बाद मैं अपने हाथों को सिर पर पोंछ लेता और परम प्रसन्न अपनी राह चल देता। मेरी मनःस्थिति तब ऐसी होती थी कि सम्राट तक मुझे तृणवत् तुच्छ नजर आते थे। इस तरह का एक मार्ग है, इसीलिए तो हमें इतिहास में राजाओं के सिंहासन छोड़कर भिक्षुक बनने की कथाएं मिलती है।"

अरुणगिरिनाथ देवालय 'अग्रहारम्' के निकट था, अतः ब्राह्मण स्वामी को देखने आनेवाले कुतूहली लोगों की भीड़ रोज बढ़ने लगी। इसीलिए वे, कुछ दिन अरुणाचलेश्वर मंदिर के बुर्जों में और परकोटे के अदंर के कनेर के बगीचे में बिताने के बाद, नगर से बाहर चले गये और अरुणाचल पर्वत की पूर्वी ढलान पर 'पवलकुंड्रू' नामक स्थान में रहने लगे जहां महेश्वर का एक देवालय था और एक चश्मा और गुफा भी थी। पवलकुंड्रू में यद्यपि वे कोई छह मास ही रहे, पर भिक्षार्थ या अन्य किसी प्रयोजन से नगर में फिर कभी नहीं गये। 1922 के अंत तक वे पर्वत पर ही रहे और फिर उस जगह रहने लगे जहां बाद में श्री रमणाश्रम बन गया।

अपने चाचा के घर मदुरै से गायब होने के 28 महीने बाद, जब वे पवलकुंड्रू में रह रहे थे, उनकी मां पहलीबार उनसे मिलने आयी। नेलैयप्प अय्यर जब तिरुवण्णामलै से निराश लौटे और लड़के को वापस नहीं ला सके, अलगम्माल तभी से यह महसूस कर रही थीं कि उन्हें खुद जाकर उससे आग्रह करना चाहिए। पर दिसंबर 1898 तक यात्रा की कोई जुगत

ही नहीं बैठी। आखिर क्रिसमस की छुट्टियों में बड़े लड़के नागस्वामी को, जो एक सरकारी दफ्तर में क्लर्क लग गया था, उन्हें तिरुवण्णामलै ले जाने का अवकाश मिला। नगर में पहुंचने पर उन्हें पता चला कि उनका वेंकटरमण, जो वहां ब्राह्मण स्वामी कहलाता था, इन दिनों पर्वत की ढलान पर पवलकुंड्रू में रह रहा है। वहां वह उन्हें एक शिला पर बैठा मिला। स्नेहमयी मां जब घर लौटने का आग्रह करने लगी तो उन्होंने कुछ मिनट बाद अपनी आंखें बंद कर लीं। अलगम्माल और नागस्वामी रोज़ आते और मां अपनी विनती बार-बार दोहराती, पर वे निश्चल मौन बैठे रहते। जब वह फूट-फूटकर रोने लगती तो वे उठ जाते और धीरे से वहां से चल देते। आखिर एक भक्त ने सुझाव दिया कि स्वामी क्योंकि बोलना नहीं चाहते, इसलिए वे लिखकर ही कोई उत्तर दे दें। तब उन्होंने अवैयक्तिक शैली में एक वाक्य लिख दिया, जिसका आशय था : "जो भवितव्य है वह होकर रहेगा, सर्वोत्तम मार्ग है—मौन रहो।" बेचारी दुखी मां तब मान मदुरै लौट गयी और स्वामी पहले की तरह ही रहते रहे।

इस तरुण साधु ने 1899 के आरंभ में पवलकुंड्रू भी छोड़ दिया और पलणि स्वामी के साथ वे विरूपाक्ष गुफा में जाकर रहने लगे। गुफा का यह नाम एक संत के नाम पर पड़ा था जिसके शरीर को वहां समाधि दी गयी थी। वे वहां कोई 17 वर्ष रहे। पर गर्मियों में, जब पास का चश्मा सूख जाता था, वे एक दूसरी गुफा में चले जाते थे जिसके बाहर आम का एक पेड़ था और पास ही 'मुलैपाल तीर्थम्' नाम का एक बारहमासी ताल था। पलणि स्वामी दिन में एक बार कस्बे से अपने और अपने गुरु के लिए भिक्षा ले आते थे। पर शीघ्र ही उसकी कोई जरूरत नहीं रही, क्योंकि भक्तों और दर्शनार्थियों में से अधिकतर खुद ही कुछ-न-कुछ लेकर आने लगे। ब्राह्मण स्वामी अब स्नान भी नित्य करने लगे।

विरूपाक्ष गुफा में रहते हुए ब्राह्मण स्वामी धीरे-धीरे समाधि और मौन

से बाहर सहजावस्था में आये। गुरुमूर्तम् में ही वे पलणि स्वामी से कभी-कभी कुछ शब्द बोलने लगे थे। पलणि स्वामी को आध्यात्मिक ग्रंथों के पढ़ने की धुन थी और वे नगर के पुस्तकालय से **अध्यात्म रामायण, योग-वशिष्ठ, कैवल्य नवनीतम्, वेदांत चूड़ामणि** आदि ले आते थे। पर उन्हें समझने में वे उतने दक्ष नहीं थे। और अपने गुरु से प्रायः उनके विषयों की व्याख्या करने को कहा करते थे। इस तरह पलणि स्वामी से बोलने का सिलसिला बढ़ता गया। ब्राह्मण स्वामी ने इसी उद्देश्य से, पलणि स्वामी की सहायता से, मलयालम सीखी और शीघ्र ही वे उस भाषा में बहुत ही दक्ष हो गये। बाद में जब विभिन्न संप्रदायों के विद्वान अपनी-अपनी भाषाओं के अपने प्रिय ग्रंथ उनके सामने व्याख्या और टीका के लिए लाने लगे तो इसी चीज की फिर पुनरावृत्ति हुई। गंभीरम् शेषय्या की सहायता से तेलुगु में और काव्यकंठ गणपति शास्त्री की सहायता से संस्कृत में उन्होंने दक्षता इसी प्रकार प्राप्त की।

तिरुवण्णामलै आने और साधकों के प्रश्नों के उत्तर शुरू में लिखकर और फिर बोलकर देने लगने के बीच का तीस मास का यह समय ऐसा लगता है, मानो, ब्राह्मण स्वामी ने तपस्या या साधना में बिताया। परंतु वह एकांत-वास और मौन, शरीर की उपेक्षा और समाधि के लंबे दौर—जिनमें दर्शनार्थियों की उनका ध्यान आकर्षित करने की सारी कोशिशें बेकार रहती थीं—आत्मोपलब्धि के लिए सोच-विचार कर की जा रही किसी साधना के भाग नहीं थे, अपितु उसकी उपलब्धि के ही तात्कालिक परिणाम थे। जैसा कि उन्होंने बाद में स्पष्ट करते हुए कहा : "मैं खाना नहीं था, इसीलिए वे कहते थे कि मैं उपवास कर रहा हूं; मैं बोलता नहीं था, इसलिए वे कहते थे कि मैं मौन रख रहा हूं।"

प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने बताया था कि तिरुवण्णामलै के शुरू के उन महीनों में उनका हृदय एक अनिर्वचनीय आनंद से भरा रहता था

और वे उसमें इतने खोये रहते थे कि अपनी देह और आसपास की उन्हें कोई सुध नहीं होती थी। धीरे-धीरे उनकी इंद्रियों और मन ने फिर से काम करना शुरू किया और उन्होंने आसपास की चीजों को देखना और अपने पास आनेवाले लोगों से बोलना फिर से सीखा। बाह्य जगत के सामान्य क्रिया-कलाप में धीरे-धीरे यह लौटना और दूसरे लोगों से सामान्य बातचीत कर पाना स्पष्ट रूप से एक नये 'व्यक्ति' का विकास था, जो पूर्णतया सात्विक था, रजोगुण और तमोगुण से मुक्त था और वासनाओं व स्मृतियों से भी मुक्त था। तन और मन जली हुई रस्सी की तरह आकार में तो जीवित थे, पर रस्सी की शक्ति और कार्यक्षमता नष्ट हो गयी थी। यह कहना चाहिए कि वे एक 'स्क्रीन' बन गये जिस पर फिल्म की छाया फेंकी जा सकती थी, या एक दर्पण बन गये जो अपने सामने आनेवाली चीजों को प्रतिबिंबित कर सकता था, पर जो स्वयं उनसे प्रभावित नहीं होता था। परिवेश से आने वाले नये स्वर 'आधार श्रुति' (मूल स्वर) में मिल जाते थे। उनके बाह्य क्रिया-कलाप की तह में और उससे परे सहज चेतना निरंतर बनी रहती थी।

कुछ लोगों की धारणा है कि "एकांत-वास और मौन के वे साल ऐसे साल थे जो आत्मोपलब्धि को सहजावस्थामें लाने और सभी तरह की परिस्थितियों में स्थिर रखने के लिए आवश्यक थे।" पर इस सिद्धांत को अब उनका शायद ही कोई अध्येता स्वीकार करेगा। आत्मोपलब्धि तो वस्तुतः, जुलाई, 1896 में मृत्यु से साक्षात्कार और आत्मा की पूर्ण अनुभूति से ही अविकल्प और सदा के लिए पूर्ण हो गयी थी। यह कहना ज्यादा सही होगा कि वे साल बाह्य जगत से अपने संबंध सहज करने के लिए आवश्यक थे। परिचित जीवन और भाषा के साथ कुछ संबंधों की वह पुनर्स्थापना थी, जो एक धीमी और लंबी प्रक्रिया थी। उस महान जागृति के तुरंत बाद ही वे बार-बार मदुरै के मंदिर में जाने लगे थे और

वहाँ नटराज और अन्य देवताओं की मूर्तियों के सम्मुख निश्चल खड़े रहते थे। जैसा कि उन्होंने बाद में स्पष्ट करते हुए कहा, "आत्मा ने देह का अपना अवलंब छोड़ दिया था और यह कोई नया अवलंब खोज रही थी।" तिरुवण्णामलै में शुरू के उन सालों में उन्हें धर्मग्रंथों के वचनों में उसी सत्य की अभिव्यक्ति मिली जिसे वे अनुभव कर चुके थे और जिससे सुपरिचित थे। परंतु ऐसा लगता है कि 1912 में 'कच्छप शिला' पर औरों के सामने दूसरी बार मृत्यु की अनुभूति होने के बाद ही महर्षि सत् और भौतिक जगत दोनों में एक-जैसी और पूर्ण सहजता प्राप्त कर पाये। उन्होंने यह जान लिया कि जगत आत्मा के पर्दे पर फेंकी गयी एक फिल्म है, या एक सिलसिलेवार सर्वसामान्य स्वप्न है। अब वे चारों ओर अपनी करुणा और कृपा बरसाते हुए भी लोगों से इस तरह मिलजुल सकते थे और बातचीत कर सकते थे मानो वे उन्हीं में से एक हों।

डॉ. टी. पी. रामचंद्रन् का कहना है कि जीवन्मुक्त का इस नानात्व के जगत को सौंदर्यपरक दृष्टि से एक लीला की तरह देखना और अना-सक्त भाव से उसमें भाग लेना एक उपयोगी उद्देश्य पूरा करता है। वह हम लोगों के लिए, जो माया के इस पार हैं, व्यावहारिक और पारमार्थिक के बीच का सेतु बन जाता है। उससे हम भी चैतन्य में सभी जीवात्माओं के एकत्व की सौंदर्यानुभूति में भाग ले सकते हैं और हमें उसकी व्यावहारिक संभावना का विश्वास हो जाता है। सिद्धपुरुष के सान्निध्य में मनुष्य को ऐसा लगता है कि उनके साथ उसे भी यह ज्ञान हो रहा है कि लीला के अभिनेताओं की तरह दर्शक भी लीला के भाग हैं, वे लीला से अलग नहीं हैं, और स्वप्न स्वप्नद्रष्टा में है, स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में नहीं है।

इस मत का समर्थन हमें महर्षि के अपने शब्दों में भी मिलता है। यह बताते हुए कि मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद भी भौतिक शरीर बना रह सकता है, उन्होंने कहा था : "आत्मोपलब्धि होते ही यदि मनुष्य अपना

शरीर छोड़ दे, तो आत्मा या आत्मोपलब्धि की दशा का कोई ज्ञान दूसरों तक पहुंच ही कैसे सकता है। उसका तो यह अर्थ होगा कि जिन्होंने अपनी आत्मोपलब्धि के फल हमें शास्त्रों में बताये हैं उन्हें ज्ञानी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे आत्मोपलब्धि के बाद भी जीवित रहे थे। और यदि यह माना जाये कि जब तक कोई संसार में कर्म करता है (और कर्म मन के बिना हो नहीं सकता), तब तक उसे ज्ञानी नहीं माना जा सकता, तो वे सब सिद्धपुरुष जो ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद विविध कर्म करते रहे अज्ञानी माने जाने चाहिए, यही नहीं, अपितु देवता और स्वयं ईश्वर तक अज्ञानी माने जाने चाहिए, क्योंकि ईश्वर भी संसार की देखभाल करता है। वस्तुतः, ज्ञानी कर्म में किसी भी तरह आसक्ति न रखते हुए और अपने को कर्ता न मानते हुए कितना भी कर्म कर सकता है और सुचारु रूप से कर सकता है। कोई शक्ति उसके शरीर के माध्यम से काम करती है और उसके शरीर को कार्य संपन्न करने के लिए प्रयुक्त करती है।"

जीवन्मुक्त हमारे बीच चेतना के रूप में, सभी व्यक्तियों में विद्यमान 'पुरुष' के रूप में रहता है। वह जीव-मात्र में और संपूर्ण जीवन के रूप में रहता है। परंतु हम अपने अज्ञान के कारण उसे अन्य व्यक्तियों में से एक और एक विशेष शरीर में रहने वाला व्यक्ति समझते हैं।

4. विरूपाक्ष गुफा : ज्ञानी की सहजता

मां 'प्रकृति' से पिता 'पुरुष' की ओर, सापेक्ष चेतना से शुद्ध चैतन्य की ओर यह पलायन केवल अस्थायी था। विरूपाक्ष गुफा में वास के आरंभ के कुछ वर्षों में ब्राह्मण स्वामी के जीवन में धीरे-धीरे फिर से भौतिक जगत और सत् का, पदार्थ और आत्मा का स्वाभाविक मिलन हुआ। एक सिद्धपुरुष के रूप में उनकी ख्याति दिन-ब-दिन फैल रही थी, इसलिए भक्तों और दर्शनार्थियों की संख्या बराबर बढ़ती जाती थी। उनमें अशिक्षित सामान्य जन, अनेक प्रकार के आधुनिक धंधोंवाले बहु-शिक्षित पर आध्यात्मिक प्रवृत्ति के विशिष्ट जन आदि होते थे। लोगों को अब वे भयावह या सबसे अलग-थलग नहीं लगते थे। दुखियारों को उनके पास पहुंच कर सांत्वना मिलती थी, भले ही वे एक शब्द भी न बोलें, क्योंकि उनकी उपस्थिति ही करुणा बरसाती थी। ज्ञानी होने के कारण वे विद्वान् साधकों को चुंबक की तरह खींचते थे। बहुत-से साधक तो उनकी छवि से बरसती शांति से इस तरह सिक्त हो जाते थे कि उनके बौद्धिक प्रश्न और संशय सब मिट जाते थे। उनकी स्नेहपूर्ण मानवीयता छोटे-छोटे बच्चों तक को आकर्षित करती थी और वे उनके पास बड़ा सुख और चैन अनुभव करते थे। पर्वत पर घूमते हुए उन्हें जो चरवाहे और घसियारे मिलते थे उनके साथ भी उनका व्यवहार वैसा ही स्नेहपूर्ण होता था। ब्राह्मण स्वामी को वे एक ऐसा दयालु मित्र मानते थे जिसके लिए जाति और वर्ग के भेदों का अस्तित्व ही नहीं था।

तिरुवण्णामलै के इस संत के पास जो लोग मन की शांति के लिए पहुंचे उनमें एक ऐचम्माल थी। 1906 के आरंभ में जब वह आयी उसका हृदय शोक से भारी था। वह अभी युवती ही थी, पर उसके पति, पुत्र और कन्या की एक-एक कर मृत्यु हो गयी थी, वह उनके सम्मुख चुपचाप आकर खड़ी हो गयी और कुछ देर में ही उसे लगा जैसे उनकी आंखों में चमकती करुणा से उसके सारे घाव भर गये हैं। वह उनकी आजीवन भक्त हो गयी। वह चार मील दूर नगर में रहती थी, फिर भी ब्राह्मण स्वामी के लिए रोज दोपहर को भोजन बनाकर लाती थी या भिजवाती थी। कुछ समय बाद, उनकी सहमति से, उसने एक लड़की गोद ले ली, जिसका नाम चैल्लम्माल था, और जब वह विवाह-योग्य हुई तो उसका विवाह कर दिया। जब उसके पोता हुआ तो उसे बड़ी खुशी हुई और उसका नाम उसने उनके नाम पर रमण रखा। एक दिन वह तिरुवण्णामलै में अपने घर में ही थी कि उसके जामाता के गांव से एक तार आया जिसमें चैल्लम्माल की मृत्यु की सूचना थी। वह दौड़ी-दौड़ी ब्राह्मण स्वामी के पास आयी और तार उनके हाथ में रख दिया। उसे पढ़ते ही वे रो पड़े। और ऐचम्माल जब बेटी की अंत्येष्टि के बाद गांव से लौटी और अपने नन्हे पोते को उसने आशीर्वाद के लिए उनके हाथों में दिया तो वे फिर रोने लगे ऐचम्माल के शोक पर महर्षि की यह प्रतिक्रिया उनके इस कथन की याद दिलाती है कि "ज्ञानी रोतों के साथ रोता है, हंसतों के साथ हंसता है, खेलतों के साथ खेलता है और गातों के साथ गीत की ताल से ताल मिलाकर गाता है। उसकी स्थिति एक निर्मल दर्पण की तरह होती है। हम जैसे हैं वह हमें उसी रूप में प्रति-बिंबित करता है। हम ही जीवन में कई तरह की भूमिकाएं अदा करते हैं। दर्पण या जिस फ्रेम में दर्पण जड़ा हुआ है वह कैसे प्रभावित हो सकता है? उन्हें कोई चीज प्रभावित नहीं करती, क्योंकि वे तो मात्र अवलब

हैं।" सिद्धपुरुष की दृष्टि, दुखांत नाटक की कला की तरह, पीड़ा का रूपांतर कर देती है और उसे अवैयक्तिक बना देती है। ऐचम्माल की तरह, और भी अनेक लोगों के साथ यही हुआ, उनका दुख आजीवन भक्ति में बदल गया।

महर्षि यद्यपि अहं का त्याग कर सच्चे संन्यासी बन चुके थे, परंतु उन्होंने किसी भी प्रकार के संन्यास की विधिवत् दीक्षा लेना स्वीकार नहीं किया। विरूपाक्ष गुफा में रहना उन्होंने अभी शुरू ही किया था कि एक सुप्रसिद्ध मठ के एक शास्त्री उनके पास यह प्रस्ताव लेकर आये कि वे संन्यास की दीक्षा ले लें। उस घटना को याद करते हुए महर्षि ने 1949 में कहा :

"एक दिन प्रातः मठ से शास्त्रीजी आये और मुझसे देर तक बातें करते रहे। उनका तर्क था कि मेरा ब्राह्मण के घर में जन्म हुआ है, इसलिए मुझे विधिवत् संन्यास की दीक्षा लेनी चाहिए। वे बोले : 'यह एक प्राचीन परिपाटी है और आप इस बारे में सब कुछ जानते हैं। हमारी बड़ी इच्छा है कि आपको अपने आचार्यों की श्रेणी में सम्मिलित करें। आप केवल हां कह दें तो मैं अपने मठ से आवश्यक सामग्री लेकर यहां आ जाऊंगा और आपको दीक्षा दे दूंगा। आप यदि **अखंड काषायम्** (पूरे गेरुआ वस्त्र) धारण न करना चाहें तो केवल गेरुआ कोपीन से ही काम चल जायेगा। कृपया इस पर विचार करें और मुझे अपनी सहमति दे दें। मैं नीचे भोजन करने जा रहा हूं और तीन बजे तक लौटूंगा। हमारे मठ के लोगों ने आपकी महिमा सुनी है और मुझे आपसे यह प्रार्थना करने के लिए भेजा है।'

"शास्त्रीजी के जाने के थोड़ी देर बाद ही एक वृद्ध सज्जन पुस्तकों का एक बंडल लिए आये। उसे मेरे सामने रखते हुए बोले : 'स्वामीजी मैं अभी-अभी आया हूं। नीचे जाकर स्नान, भोजन से निवृत्त हो जब तक मैं

लौटूं, आप इस बंडल को जरा देखते रहें।' उनके जाने के बाद मेरी इच्छा उसे खोलने और पुस्तकों को देखने की हुई। पहली ही पुस्तक जिस पर मेरी नजर पड़ी, संस्कृत का **अरुणाचल माहात्म्य** था। यह रचना संस्कृत में भी उपलब्ध है, यह तब तक मुझे पता न था। पुस्तक जैसे ही मैंने खोली मुझे उसमें एक श्लोक मिला, जिसका भाव था: **जो भी इस अरुणाचल के तीन योजन के घेरे में रहते हैं, वे दीक्षा न भी लें तो जन्मों के बंधन से मुक्ति पायेंगे और मुझमें लीन होंगे—यह मेरा वचन है।**

तीसरे पहर जब शास्त्रीजी लौटे तो उनके प्रस्ताव के उत्तर में मैंने उन्हें यह श्लोक दिखला दिया। वे विद्वान् आदमी थे, इसलिए और कुछ न कहकर नमस्कार कर चुपचाप चल दिये।"

इस प्रकार अरुणाचल की शक्ति की, जो वस्तुतः पुराणकार के कवि-मन की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, घोषणा और पुष्टि करते हुए, महर्षि ने एक ऐसी कर्मकांडबहुल औपचारिकता अस्वीकार कर दी जो एक विशिष्ट समाज में विशिष्ट व्यक्तियों को विशेष परिस्थितियों में उपलब्ध है। अपनी स्वतंत्रता उन्होंने कायम रखी और उसका इसी तरह की आस्था रखनेवाले अन्य लोगों का विस्तार किया। तथापि, बाद में वे यह घोषित कर सके थे कि वैधानिक अर्थ में वे संन्यासी नहीं, **अत्याश्रमी**[1] हैं।

इस तरुण साधु के पास जो अनेक विद्वान साधक आये उनमें संस्कृत के महाकवि और पंडित काव्यकंठ गणपति शास्त्री मुख्य थे। वैसे तो वे ब्राह्मण स्वामी के पास 1903 से ही आने लगे थे, पर चार वर्ष बाद उन्हें उन्होंने अपना गुरु बना लिया। वे धर्मग्रंथों में पारंगत थे और तप भी कर चुके थे। पर उन्हें संतोष नहीं मिला था और कोई स्पष्ट व सुनिश्चित मार्ग

---

[1]ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास—इन चारों आश्रमों के पार

नजर नहीं आता था। 1907 में जब वे विरूपाक्ष गुफा में फिर आये तो उन्होंने ब्राह्मण स्वामी से तप के स्वरूप पर प्रकाश डालने की प्रार्थना की। कुछ पल मौन रहने के बाद स्वामी ने उत्तर दिया : "यदि कोई यह निरीक्षण करे कि 'मैं' का भाव कहां से उत्पन्न होता है और मन 'उसमें' लीन हो जाय, तो वह तप है। मंत्र को जपते हुए यदि कोई उस स्रोत का निरीक्षण करे जिससे मंत्र की ध्वनि उत्पन्न होती है और मन, 'उसमें' लीन हो जाय, तो वह तप है।"

काव्यकंठ ने ही ब्राह्मण स्वामी को 'भगवान श्री रमण महर्षि'—यह नाम दिया और सुब्रह्मण्य का अवतार मानकर उनकी पहले स्तुति की। काव्यकंठ और उनके टी. वी. कपाली शास्त्री तथा दैवरात जैसे विद्वान शिष्यों के प्रश्नों और महर्षि द्वारा दिये गये उनके उत्तरों से ही संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथ **रमण गीता** की रचना हुई। कपाली शास्त्री ने लिखा है : "विश्व के संतों में महर्षि अनोखे हैं। आत्मोपलब्धि के बाद पूरे चौवन वर्ष तक जीना, एक ही स्थान पर रहते हुए इतने अधिक लोगों को प्रभावित करना, सभी के लिए हर समय सुलभ होना, संशय और विश्वास के ज्वार को इस तरह रोकना जैसे कि उन्होंने रोका—यह सब सचमुच अभूत-पूर्व है।" महर्षि के लिए कपाली शास्त्री के हृदय में प्रेम और आदर सदा बना रहा। पर, फिर भी उन्हें लगा कि "उनकी शिक्षा अत्यधिक सीधी है और केवल देखने में ही सरल लगती है। आरंभ-बिंदु और लक्ष्य के बीच उसमें कहीं पैड़ियां नहीं हैं। कम-से-कम मेरे-जैसी परिस्थिति वाले लोगों के लिए वह व्यावहारिक नहीं है", और वे श्री अरविंद के अनुयायी हो गये।

गणपति शास्त्री को एक बार शैव सिद्धांत सम्मेलन में भाग लेने का निमंत्रण मिला। वे असमंजस में पड़ गये, क्योंकि इस संप्रदाय के धार्मिक साहित्य से, जो अधिकतर तमिल में है, वे अच्छी तरह परिचित नहीं थे।

तब महर्षि ने उन्हें उसका सार समझाया और संस्कृत में उसके बारह सूत्र दिये। फल यह हुआ कि उस सम्मेलन में गणपति शास्त्री का योगदान बहुत ही पांडित्यपूर्ण और प्रामाणिक रहा और उसकी खूब सराहना हुई।

काव्यकंठ ने रमण महर्षि पर संस्कृत में कई स्तोत्र रचे। उन्हीं के आग्रह पर महर्षि ने संस्कृत के कठिन छंदों पर हाथ आजमाते हुए कुछ पद्यों की रचना की। गणपति शास्त्री का **सद्दर्शन**, जो महर्षि रचित **उल्लदु नार्पदु** (सत् चालीसा) का अनुवाद है, तत्त्वज्ञान की एक सुप्रसिद्ध अर्वाचीन रचना है जो क्लासिक मानी जाती है।

रमण गीता की सुयोग्य विद्वानों ने जहां उसकी भास्वर और मंजुल संस्कृत शैली के लिए सराहना की है, वहां उसकी विषय-वस्तु, अनुवाद तक में, आम पाठक पर जबर्दस्त प्रभाव डालती है। वेदांतिक परंपरा से अनभिज्ञ पाठक तक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। उसके तीसरे अध्याय में मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य अपने वास्तविक स्वरूप, 'सभी कर्मों और उनके फलों के मूल' की खोज बताया गया है। अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए यह जरूरी है कि विचारों को इंद्रियों के विषयों से हटाने और निरंतर आत्मपरक अन्वेषण में लगे रहने के लिए जमकर प्रयास किया जाय। पांचवें अध्याय में **हृदय विद्या** का विवेचन है। 'हृदय' से अभिप्राय यहां छाती में बायीं तरफ स्थित अंग-विशेष से नहीं है, अपितु आत्मा से है जिसकी स्थिति दायीं ओर मानी गयी है, जहां से 'अहं' का भाव और अन्य सभी भाव उत्पन्न होते हैं। योग की जटिलता को परे हटाते हुए श्री रमण हमारे वास्ताविक स्वरूप का रहस्य खोलते है :

> सारा ब्रह्मांड शरीर में है और सारा शरीर 'हृदय' में। अतः सारा ब्रह्मांड 'हृदय में सन्निहित है। जिस प्रकार सूर्य चंद्रमा को प्रकाश देता है, उसी प्रकार यह 'हृदय' मन को प्रकाश देता है। 'हृदय' की ओर से

अचेत प्राणी को केवल मन की प्रतीति होती है, जैसे कि सूर्य की अनुपस्थिति में रात को चंद्रमा के प्रकाश की प्रतीति होती है। अज्ञानी यह नहीं समझता कि प्रकाश का वास्तविक स्रोत उसकी अपनी आत्मा है, और वह मन में वस्तुओं को अपने से अलग समझता है और इस प्रकार भ्रम में रहता है। ज्ञानी, 'हृदय' में रहने के कारण, मन के प्रकाश को 'हृदय' के प्रकाश में उसी तरह लीन देखता है, जैसे कि चंद्रमा का प्रकाश दिन के प्रकाश में लीन होता है। द्रष्टा दृश्य से अलग है, यह धारणा मन की है। जो 'हृदय' में रहते हैं उनके लिए द्रष्टा और दृश्य एक ही हैं।

दसवें अध्याय में संघ विद्या का, जिसमें समाजशास्त्र, राजनीति और मानव-बंधुत्व शामिल हैं, सार दिया गया है। स्वयं अपने प्रति, अपने क्षेत्र के प्रति, देश के प्रति और मानवता के प्रति हमारे कर्तव्यों में परस्पर टकराव नहीं होना चाहिए। "एक ऐसे समाज में जहां लोग अलग-अलग ढग से जीवन-यापन करते हैं, समाज शरीर की तरह होता है और सदस्य उसके अंगों की तरह। अंग जिस तरह शरीर की सेवा करके समृद्ध होता है, सदस्य उसी तरह समाज की भलाई के लिए काम करके समृद्ध होता है। मन, वाणी और शरीर से मनुष्य को सदा ऐसा व्यवहार करना चाहिए जिससे समाज का हित हो, और अपने क्षेत्र को भी ऐसा ही करने के लिए जाग्रत करना चाहिए।" समाज का मंगल-क्षेम शांति से, जो मनुष्य के अपने मन को निर्मल करती है और शक्ति से, जो समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है, दोनों तरह बढ़ाना होता है। जिस तरह वर्गों और संप्रदायों के आपसी टकराव को रोकना आवश्यक है उसी तरह राष्ट्रों के आपसी टकराव को रोकना भी आवश्यक है। "समूचे मानव समाज को जिस परम लक्ष्य पर पहुंचाना है, वह है, समता की भावना पर आधारित बंधुत्व। इस तरह के बंधुत्व से ही मानव जाति में शांति कायम रहेगी और

तब यह पूरा भू-मंडल एक परिवार की तरह फूले-फलेगा ।"

तेरहवें अध्याय में यह विधान है कि स्त्री को भी संन्यास का उतना ही अधिकार है जितना कि पुरुष को, क्योंकि मुक्ति और ज्ञान में स्त्री और पुरुष के बीच कोई भेद नहीं है ।

पंद्रहवें अध्याय में बताया गया है कि "संशय और भ्रांति दोनों केवल अनुभव से दूर होते हैं, धर्मग्रंथों से नहीं, वे चाहे सैकड़ों क्यों न पढ़ लिये जायें ।"

महर्षि के प्रभाव में आने वाले सबसे पहले पाश्चात्य साधक, संभवतः, भारतीय पुलिस सेवा के एफ. एच. हंफ्रीज थे, जो महर्षि के दर्शन के लिए 1911 में पर्वत पर आये थे । 21 वर्षीय नवयुवक हंफ्रीज धर्म के गहरे अध्येता थे और उनमें चमत्कारी शक्तियां प्रकट होने लगी थीं । इसीलिए उनमें सिद्धियों के लिए बड़ी जिज्ञासा थी । महर्षि ने उन्हें इस दिशा में बढ़ने से रोका और कहा : "मानसिक चमत्कारों को बहुत महत्व मत दो । परोक्ष-दर्शन, परोक्ष-श्रवण आदि का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि उनसे नहीं, बल्कि उनके बिना मनुष्य कहीं अधिक प्रकाश और शांति प्राप्त कर सकता है । गुह्य शक्तियों को किसी भी गुरु ने कभी कोई महत्व नहीं दिया, क्योंकि अपने दैनिक जीवन में उसे उसकी कोई जरूरत नहीं पड़ती ।

"हम जो घटनाएं देखते हैं वे विचित्र ओर आश्चर्यजनक अवश्य हैं । परंतु हम यह नहीं समझते कि सबसे अद्भुत यह है कि वे सब घटनाएं जो हम देखते हैं ओर उन्हें देखने की क्रिया केवल एक ही असीम शक्ति के कारण है । जीवन, मृत्यु और घटनाओं जैसी परिवर्तनशील चीजों पर अपना ध्यान मत जमाओ । उन्हें देखने या जानने की वास्तविक क्रिया तक के बारे में मत सोचो, बल्कि केवल 'उसके' बारे में सोचो जो सब चीजों को देखता है—जो इस सबका कारण है । वह तुम्हारे अंदर है । ध्यान की

इस तरह केंद्रित करने के परिणाम तुम्हें सभी तरह के अकाम्य परोक्षा-दर्शन में, मन की शांति में कष्टों से जूझने की शक्ति में, सर्वतोमुखी शक्ति में दिखाई देंगे, फिर भी वह सदा अकाम्य शक्ति होगी।

"धर्म—वह चाहे ईसाई, बौद्ध, हिंदू हो या थियोसॉफी या कोई अन्य पंथ— हमें केवल उस बिंदु तक ले जा सकता है जहां सभी धर्म मिल जाते हैं, उससे आगे नहीं। वह बिंदु इस तथ्य को समझ लेना है—रहस्यात्मक अर्थ में नहीं, बल्कि नितांत लौकिक और दैनिक अर्थ में समझना है और जितना लौकिक, दैनिक व्यावहारिक अर्थ में समझो उतना ही अच्छा है—कि ईश्वर हर चीज है और हर चीज ईश्वर है।" परंतु ईश्वर की सर्वव्यापकता के इस तथ्य को केवल बुद्धि से नहीं समझना है, अपितु सतत अभ्यास से प्रत्यक्ष करना और अनुभव करना है।

हफ़ीज के यह पूछने पर कि क्या मैं संसार की सहायता कर सकता हूं, महर्षि ने कहा : "अपनी खुद की सहायता करो तो संसार की सहायता करोगे। तुम संसार से भिन्न नहीं हो और न संसार तुम से भिन्न है।" बहुत-से अन्य साधकों की तरह, जो अपने लौकिक दायित्वों और धार्मिक जीवन के बीच प्रतीत होनेवाले द्वंद्व से परेशान थे, उन्हें भी महर्षि ने सलाह दी कि अपना सरकारी काम-काज करो और साथ-साथ 'ध्यान' भी करो।

हफ़ीज ने लंदन के अपने एक मित्र के नाम अपने पत्र में, जो बाद में विद्वानों की एक प्रतिष्ठित पत्रिका में प्रकाशित हुआ, महर्षि के उपदेश का विवरण दिया और उनकी उपस्थिति का उन पर जो प्रभाव पड़ा था उसे इस तरह व्यक्त किया : "गुफा में पहुंचकर हम उनके सम्मुख उनके चरणों में बैठ गये और कुछ नहीं बोले। बहुत देर हम उसी तरह बैठे रहे और मुझे लगा जैसे मैं अपने-आपसे ऊपर उठ गया हूं। कोई आधे घंटे तक मैं महर्षि की आंखों में देखता रहा, जिनके गहरे 'ध्यान' के भाव में इस बीच कोई अंतर नहीं आया। मुझे कुछ ऐसा अनुभव होने लगा कि शरीर

पवित्र आत्मा का मंदिर है। मेरी अनुभूतियां वर्णनातीत थीं···सर्वाधिक हृदयस्पर्शी दृश्य यह था कि सात साल तक के अनेक छोटे-छोटे बच्चे खुद पहाड़ पर चढ़कर वहां आते थे और महर्षि के पास बैठ जाते थे, भले ही वे कई-कई दिन एक शब्द भी न बोलें, उनकी ओर भी न देखें। बच्चे वहां खेलते नहीं थे, बल्कि परम संतुष्ट बस चुपचाप बैठे रहते थे।"

परन्तु, कई बार वहां आनेवाले बच्चे न केवल खेलते थे, बल्कि महर्षि भी उनके साथ खेल में भाग लेने लगते थे। वर्षों बाद, एक भक्त के यह पूछने पर कि क्या यह सच है कि विरूपाक्ष गुफा में आप बच्चों के साथ कचे खेला करते थे, महर्षि ने यह बात स्वीकार की और कहा : "उसके लिए खोदे गये 'पीलू' वहां अभी भी होंगे। वे बच्चे कभी-कभी मिष्ठान्न ले आते थे, जिसे हम सब बांटकर खा लेते थे। दिवाली पर वे मेरे हिस्से के पटाखे अलग निकाल देते थे और उन्हें ऊपर मेरे पास ले आते थे। हम सब मिलकर पटाखे छोड़ते थे। उसमें बड़ा मज़ा आता था।"

विरूपाक्ष गुफा में खेलने के लिए जो नन्हे-मुन्ने पहाड़ पर आते थे वे कभी-कभी अपने साथ गुड्डे-गुड़िया भी ले आते थे और वहां उनका विवाह रचाया जाता था। उन बच्चों में ऐचम्माल की चैल्लम्माल भी होती थी। बहुत छोटी होते हुए भी वह अपनी मां के साथ एकादशी, कृत्तिका आदि में व्रत किया करती थी। महर्षि ने देखा कि उपवास से बच्ची का स्वास्थ्य गिर रहा है। उसकी मां महर्षि के लिए भोजन बनाकर उसके हाथ प्रायः भेजा करती थी। बाद में, उस बात को स्मरण करते हुए उन्होंने बताया : "एक कृत्तिका को वह मेरे लिए भोजन लायी, पर उसका अपना व्रत था। मैंने कहा, 'जब तू कुछ नहीं खा रही है तो मैं कैसे खा सकता हूं?' मैंने उसे समझाया, 'अभी तू बच्ची है; तुझे इन व्रतों आदि में नहीं पड़ना चाहिए' और अंत में उसे खाने के लिए तैयार कर लिया।" हुआ यह कि अगले दिन जब वह खाना लिये पहाड़ पर आ रही थी उसे रास्ते में

कागज का एक टुकड़ा पड़ा मिला, जिस पर एक श्लोक लिखा हुआ था, वह कागज उसने महर्षि को दिखलाया। महर्षि ने संस्कृत के उस श्लोक का भाव उसे तमिल में सुनाया, जो इस प्रकार था : **संतों की संगत यदि मिल सके तो आत्मसंयम के नाना यम-नियमों की क्या जरूरत है? कहिए न शीतल मद मलयानिल बह रहा हो तो पंखे की क्या जरूरत है?** उसके बाद उसने व्रत रखने छोड़ दिये।

निर्धन और निम्न वर्ग के लोगों के साथ एकात्मता को दर्शानेवाले असंख्य प्रकरणों में से एक का उन्हीं के सजीव शब्दों में वर्णन किया जा सकता है : "गर्मियों में हम विरूपाक्ष गुफा से, जहां पानी नहीं होता था, आम के पेड़ वाली गुफा में चले जाते थे। दोपहर के समय नीच जाति की कुछ स्त्रियां घास के भारी गट्ठर लिये, थकान से चूर, गुफा पर आती थीं। वे बेचारी बहुत सवेरे थोड़ा मांड पीकर घर से निकल पड़ती थीं और पहाड़ पर चढ़कर घास इकट्ठी करती थीं। गुफा पर आते ही वे अपने गट्ठर नीचे फेंक देतीं, जमीन पर झुक जातीं और कहतीं : 'स्वामी, हमारी पीठ पर एक घड़ा पानी डालो न !' मैं बरामदे पर खड़ा हो जाता और उनकी इच्छानुसार उन पर पानी डालता। थकान दूर होने पर वे कहतीं, 'आह, कितना अच्छा लगता है।' दोनों हाथों की ओक बना वे भर-पेट पानी पीतीं, हाथ-मुंह धोतीं, पेड़ों की छाया में कुछ देर आराम करतीं और फिर चली जातीं। मैं जानता था वे कब आयेंगी और उस वक्त पानी तैयार रख उनकी प्रतीक्षा करता। वे करतीं भी क्या? मुलैपाल तीर्थम् के जल को वे छू नहीं सकती थीं, और, और कहीं पानी था नहीं। घास बेचकर जब तक कुछ पैसे न मिल जायें तब तक वे मांड पा नहीं सकती थीं। वे बाल-बच्चों वाली औरतें थीं। बच्चों की देखभाल के लिए उन्हें जल्दी ही घर पहुंचना होता था वे गरीब करतीं भी क्या? गुफा पर वे इस आशा से आती थीं कि स्वामी से पानी मिल जायेगा।

"उन दिनों हम भोजन नहीं बनाते थे। लेकिन यदि किसी दिन बनाते तो चावल को पकाते समय उसमें बहुत सारा पानी डाल देते, मांड निकाल कर हम एक बर्तन में डालते, उसमें खूब सारा और पानी मिला देते और नमक डाल देते। अगर सोंठ होती तो वह भी मैं उसमें मिला देता। उन गरीब औरतों के आने तक मांड का जल काफी ठंडा हो जाता। जब वह गिलास-भर उनकी ओक में डाला जाता, तो वे उसे अमृत की तरह पीतीं और फिर चली जातीं। उस मांड के स्वाद और उसे पीने की प्रसन्नता का आनंद वही ले सकती थीं।" और नागम्मा यह बात सुनाते हुए बताती है कि महर्षि तब इतने भावाभिभूत होते थे कि बोल नहीं पाते थे और मौन हो जाते थे।

महर्षि और मुदलियार स्वामी एक बार विरूपाक्ष गुफा से थोड़ा ऊपर एक पहाड़ी पर एक-साथ घूम रहे थे। वहां कोई 15 फुट ऊंची एक चट्टान थी जिसकी चोटी पर एक दरार थी। भेड़ें चरानेवाली एक बच्ची वहां खड़ी रो रही थी। महर्षि के कारण पूछने पर उसने बताया कि उसकी एक भेड़ दरार में फिसल गयी है और उससे वह निकल नहीं रही है। वे तुरंत दरार में उतर गये, भेड़ को अपने कंधों पर रखा और ऊपर आ गये। लड़की को जब उन्होंने भेड़ दी तो उसकी खुशी का अंत न था।

सोलह वर्ष की आयु में उन्हें जो मृत्यु का अनुभव हुआ था, सोलह वर्ष बाद, 1912 में उसकी पुनरावृत्ति हुई, पर थोड़े परिवर्तन के साथ। इस बार वह जब हुआ तब कुछ और लोग भी उपस्थित थे। महर्षि ने नागम्मा को वह इन शब्दों में सुनाया था :"एक दिन मैं वासु (वासुदेव शास्त्री) आदि के साथ स्नान के लिए 'पच्च्यम्मन कोविल' के सामनेवाले ताल पर गया। जल्दी के एक रास्ते से जब हम वापस आ रहे थे तो 'कच्छप शिला' के पास आने पर मुझे थकान महसूस होने लगी और चक्कर आने लगा। अचानक सामने का प्राकृतिक दृश्य मेरी नजर से गायब हो गया और मानो उस

पर एक सफेद चादर तन गयी। किंतु यह एक का गायब होना और दूसरे का प्रकट होना धीरे-धीरे हुआ, जिससे प्राकृतिक दृश्य का कुछ भाग और सफ़ेदी का कुछ भाग एक-साथ मेरे सामने थे। परंतु शीघ्र ही प्राकृतिक दृश्य बिलकुल गायब हो गया और मेरा चलना रुक गया। मैंने चलना फिर से तभी शुरू किया जब वह सफ़ेदी गायब हो गयी। दूसरी बार फिर ऐसा हुआ और शरीरिक दुर्बलता बढ़ गयी, जिससे मुझे सहारे के लिए शिला पर झुकना पड़ा। जब फिर तीसरी बार ऐसा हुआ तो मैं शिला पर बैठ गया। मुझे चारों ओर एक सफ़ेद चादर नज़र आ रही थी।

"मेरा सिर चकरा रहा था। रक्त-संचार और दिल की धड़कन रुक गयी और शरीर का रंग काला पड़ने लगा, जैसा कि मृत शरीर में होता है। कालिमा धीरे-धीरे बढ़ रही थी, इसलिए वासु ने सोचा कि मैं सचमुच मर गया हूं और वह मुझसे लिपटकर रोने लगा। मेरे शरीर का रंग बदलना, वासु का लिपटना, उसकी देह का कांपना और आसपास के अन्य लोगों की बातचीत—इन सबकी मुझे चेतना थी। मुझे यह भी चेतना थी कि मेरे हाथ-पांव ठंडे पड़ते जा रहे हैं, दिल की धड़कन रुक गयी है, पर मुझमें भय नहीं था। विचारों का प्रवाह और आत्म-चेतना लुप्त नहीं हुई थी, और शरीर की दशा की मुझे कोई चिंता नहीं थी। मैं पद्मासन की मुद्रा में बैठा था, पीछे की चट्टान की टेक नहीं लगाये हुए था। रक्त-संचार रुक गया, पर आसन वैसा ही बना रहा। यह सब कोई पंद्रह मिनट चला।

"अचानक मेरे पूरे शरीर में शक्ति दौड़ी। रक्त-संचार और दिल की धड़कन शुरू हो गयी। शरीर की कालिमा गायब हो गयी। देह के पोर-पोर से खूब पसीना बहने लगा। मैंने आंखें खोलीं और उठ खड़ा हुआ। 'आओ, हम चलें, मैंने कहा और उसके बाद बिना किसी और घटना के हम विरूपाक्ष गुफा पहुंच गये।

"मेरे दिल और श्वास का कार्य एक साथ केवल तभी बंद हुआ, यह

स्थिति मैंने कोई जान-बूझकर पैदा नहीं की थी। मृत्यु के बाद शरीर कैसा लगता है; यह देखने की मुझे कोई इच्छा नही थी। इस तरह का अनुभव मुझे पहले हो चुका था। इस बार वह अधिक स्पष्ट था, बस यही अन्तर था।"

यह कहा जा सकता है कि 1948-50 की अपनी अंतिम लंबी और कष्टप्रद बीमारी में महर्षि ने शरीर के प्रति वैसी ही पूर्ण अनासक्ति दिखायी चमत्कार की कहानियों, प्रकाश की एक लौ में शरीर के रहस्यात्मक ढंग से गायब हो जाने, आदि में लोगों की अभिरुचि को उन्होंने रोका। उनकी धारणा थी कि 'आत्म-विचार' का मार्ग केवल कुछ चुने हुए लोगों के लिए नहीं बल्कि सभी के लिए खुला है। इसीलिए उन्होंने यह दिखाया कि ज्ञानी का शरीर भी, किसी भी अन्य शरीर की तरह, रोग और क्षय का शिकार होता है, सभी शरीरों की यही गति है।

महर्षि के जीवन में फिर कोई और उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। बाद के चालीस वर्षों की उनकी कहानी उन विभिन्न भक्तों और साधकों की कहानी है जो उनके पास अपनी समस्याएं और प्रश्न लेकर आये। जीवन्मुक्त का जीवन उन सबके सुख-दुख में निरंतर भाग लेना था जो उनकी ओर प्रकाश या सांत्वना के लिए देखते थे।

5. स्कंदाश्रम और महर्षि की मां

स्वभावत: जो लोग महर्षि के पास आये और जिन्हें उनकी कृपा प्राप्त हुई, उनमें उनकी मां भी थीं।

तिरुवण्णामलै से निराश लौटने के बाद 1898 के अंत में, अलगम्माल पर यह वज्रपात हुआ कि उनके सबसे बड़े बेटे नागस्वामी की मृत्यु हो गयी। तीर्थयात्रा के लिए पहले काशी और फिर 1914 में, तिरुपति जाते हुए वह अपने साधु बेटे से मिलने आयीं। दूसरी बार वह बीमार पड़ गयीं और दो-तीन सप्ताह ज्वर से पीड़ित रहीं। तब महर्षि ने उनकी देखभाल की। एक बार जब वह मूर्छित पड़ी थीं महर्षि ने उनकी रोग-मुक्ति के लिए शिव से प्रार्थना के चार पद रचे। उन पदों में से तीसरा कुछ अस्पष्ट है :

अरुणाचल, तुम हो प्रज्वलित ज्ञानाग्नि,
मां को अपने प्रकाश में लपेट लो
अपने साथ इसे तुम एकाकार कर लो
दाह क्रिया की क्या फिर आवश्यकता रहेगी ?

यह वस्तुत: उन्हें माया के ताप से छुड़ाने और फिर से अखंडता में लीन करने की प्रार्थना थी।

एक दृश्य और मूर्त पर्वत-देवता से एक ब्रह्मवादी साधु की मध्यस्थता के लिए प्रार्थना में जो विरोधाभास था, उनके एक भक्त जी, रामस्वामी

पिल्लै ने उसे 'वेण्बा' छंद में ही रचे इस पद में रेखांकित किया है :

स्वयं विश्वमाता, अरुणाचल के रमण
मां का कष्ट जब कर न पाये सहन
तो रोग-मुक्ति के लिए करने लगे स्तुति,
आत्मा के गिरिवर से आत्मा की कृपा
तब मानो इन चार पदों में बही।

अलगम्माल स्वस्थ हो गयीं ओर मानमदुरै वापस चली गयीं। पर दो साल के भीतर ही उनके जेठ नेल्लैयप्प अय्यर का देहांत हो गया। सबसे छोटे बेटे नागसुंदरम् की पत्नी भी एक दूध-पीते बच्चे को छोड़ चल बसी। तब उन्हें लगा कि जीवन के अंतिम वर्ष अब उन्हें अपने साधु बेटे के साथ ही बिताने चाहिए। 1916 में वह उनके साथ रहने के लिए जब विरूपाक्ष गुफा में आयीं तो कुछ भक्तों को यह भय होने लगा कि महर्षि अब कहीं और न चले जायें। परंतु अव वे अपने मानव संबंधों में पूर्णतया सहज हो चुके थे, अतः अपनी माँ को उन्होंने आश्रम-परिवार के एक सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिया। शीघ्र ही उनका सबसे छोटा बेटा नागसुंदरम् भी, जो महर्षि से पहले मिल चुका था, वहां आ गया। वह निरंजनानंद नाम रखकर संन्यासी हो गया और आश्रम के कामों की देखभाल करने लगा।

बेटे से मां के अनुराग की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में होती थी। उनकी मृत्यु के बाद महर्षि ने उन बातों को याद करते हुए कहा था : "यद्यपि मैं बराबर मना करता रहा, पर उसने पहले कोई सब्जी, फिर झोल आदि और इस तरह धीरे-धीरे भोजन बनाना शुरू कर दिया। वह कोई-न-कोई चीज यह कहकर इकट्ठी कर लेती कि 'यह सब्जी उसे अच्छी लगती है, यह फल उसे अच्छा लगता है।' मेरी बांहों में ही उसके प्राण छूटें, उसकी यह साध थी। अलमेलु (छोटी बहन) ने जब मानमदुरै के निकट अपने

गांव में नया घर बनवाया तो उसने मां से वहां आने की बड़ी प्रार्थना की। उसका कहना था कि मां यदि एक बार उस घर में अपने चरण रख दें तो भी काफी है। पर वह राजी ही नहीं हुई, क्योंकि उसे भय था कि कहीं वह वहां बीमार पड़ गयी तो फिर वापस नहीं आ सकेगी। वह कहा करती थी, "तुम चाहे मेरे मृत शरीर को इन कंटीली झाड़ियों में फेंक देना, मुझे उसकी कोई चिंता नहीं है, पर मेरे प्राण तुम्हारी बांहों में ही छूटने चाहिए।"

धीरे-धीरे मां से उन्होंने उसके कट्टरपंथी तरीके छुड़वाये, महर्षि की मां होने की अहम्मन्यता छुड़वायी और इस तरह उन्हें जीवन-चक्र से मुक्ति के लिए तैयार किया।

एक रात वह पापड़ (अप्पलम्) बनाने बैठीं और चाहती थीं कि उनका बेटा उसमें उनका हाथ बटाये। इस तरह के रसना-विलासों में उनका पड़ना महर्षि को अच्छा नहीं लगा, पर इस अवसर का उपयोग कर उन्होंने सुप्रसिद्ध 'अप्पलम् गीत' की रचना की, जो 'धान गीत', 'झोल गीत' और इसी तरह के वेदांतिक अर्थों वाले अन्य घरेलू गीतों का, जिन्हें वह जानती थीं और गाया करती थीं, शिरोमणि बन गया। इस गीत की रचना के कुछ समय बाद, महर्षि ने स्वयं एक बार गिरि-परिक्रमा करते समय भक्तों को उसका तात्त्विक अर्थ समझाया था और प्रत्येक भाव और बिंब के लिए अनेक विद्वानों के प्रमाण दिये थे। उसकी व्याख्या समाप्त होने से पहले ही गिरि-परिक्रमा पूरी हो गयी थी। गीत की विषय-वस्तु यह है :

जैसे कि काले चनों को चक्की में पीसते हैं, 'पिरंडै' का रस मिलाकर गूंधते हैं। लोई बनाकर बेलते हैं, तलते हैं और फिर खाते हैं, उसी तरह शरीर-क्षेत्र में उगे 'अहं' को आत्म-विचार की चक्की में पीसना चाहिए, सत्संगति से सिक्त करके मृदु और पतला कर लेना चाहिए, भक्ति में तलना चाहिए और फिर जीवात्मा को उसे खा लेना चाहिए। इस प्रकार इस व्यंजन को बनाने और खाने की प्रक्रिया का हर चरण किसी साधना का

प्रतीक बन जाता है और यह सारा जाना-पहचाना कार्य-कलाप एक प्रकार के गृह्य-संस्कार का रूप ले लेता है।

मां ने आश्रमवासियों और अतिथियों के लिए भोजन बनाना शुरू कर दिया। शीघ्र ही उन लोगों को अधिक बड़ी जगह की आवश्यकता अनुभव होने लगी। तब पर्वत पर थोड़ा और ऊपर उसकी व्यवस्था की गयी। कंदस्वामी नाम के एक परिश्रमी और बलिष्ठ भक्त ने, कुछ मजदूरों की सहायता से, नागफनी के कटीले झाड़ों को साफ किया, पत्थरों और शिला-खंडों को तोड़-ताड़कर जमीन हमवार की, एक बाग लगाया और इस तरह 1917 में एक आश्रम खड़ा कर दिया, जो अपने निर्माता के नाम के संस्कृत पर्याय पर 'स्कंदाश्रम' कहलाने लगा।

स्कंदाश्रम जिन दिनों बन रहा था, भक्त अपने और मजदूरों के लिए स्वयं भोजन बनाते थे और महर्षि उनमें उनका हाथ बटाया करते थे। बाद में उन्होंने देवराज मुदलियार को बताया था, "शुरू में बहुत-से आदमी काम करते थे, क्योंकि नागफनी के झाड़ों को साफ करना था और जमीन हमवार करनी थी। हम उन्हें मजदूरी के अतिरिक्त दोपहर का भोजन भी देते थे। उनके और अपने लिए हम केवल दो चीजें बनाते थे : एक बहुत बड़े बर्तन में कांजी और दूसरे में जो भी सब्जियां उपलब्ध होती थीं वे सब पका लेते थे परिमाण का अनुमान आप इससे लगा सकते हैं कि कड़छी की जगह हम उन्हें पेड़ की एक डाल से चलाया करते थे।"

एक और भक्त ने स्कंदाश्रम की एक घटना सुनायी है। "एक दिन महर्षि के साथ वह अकेला ही था और आश्रम की पैड़ियों पर बैठा था कि एक आदमी अपने परिवार के साथ फाटक तक आया और यहीं रुककर मुझे पुकारने लगा। मैं जब उसके पास गया तो वह बोला, 'कृपया स्वामी से पूछ लीजिये कि क्या हम प्रणाम करने के लिए उनके पास आ सकते है।' मैंने आश्चर्य से पूछा, 'आप अनुमति क्यों मांगते हैं?' वह कहने लगा,

'हम अस्पृश्य हैं ।' मैंने उसे बताया कि 'भगवान' के लिए जाति कोई अर्थ नहीं रखती, आप सबका स्वागत है। लोग आये और भगवान के चरणों में लोट गये। मुझे अच्छी तरह याद है, कोई दस मिनट तक महर्षि उस अस्पृश्य और उसके परिवार को कृपापूर्ण दृष्टि से देखते रहे। कितने ही धनी और गणमान्य लोगों को मैं उनके चरणों में लोटते देख चुका था पर कृपा का वैसा प्रसाद पाते मैंने किसी को नहीं देखा।"

केरल के प्रख्यात संत और समाज-सुधारक, श्री नारायण गुरु महर्षि के दर्शनों के लिए स्कंदाश्रम आये थे। दोनों में एक भी शब्द का अदान-प्रदान नहीं हुआ, केवल मूक सपर्क की तीव्र धारा बहती रही। महर्षि वैसे ही बैठे रहे, उनके नेत्र अपलक खुले थे, और भक्तों के आने और प्रणाम करने जाने का सिलसिला जारी था। श्री नारायण गुरु ने महर्षि और आश्रमवासियों के साथ ही भोजन किया। घर वापस आने पर उन्होंने संस्कृत में पांच श्लोक रचे, जो **निर्वृत्ति पंचकम्** के नाम से प्रसद्धि हैं। इन श्लोकों में जीवन-मुक्त के आनंद का वर्णन है। श्लोक उन्होंने रमण महर्षि को भेज दिये।

अलगम्माल अब स्कंदाश्रम में एक भक्त की तरह रहती थीं और अन्य भक्तों की सेवा करती थीं। 19 मई, 1922 (बैशाख की बहुला नवमी) को उनका शरीर पूरा हो गया। अखिरी घड़ियों में भक्त उनके चारों और बैठे वेद-मंत्रों का पाठ और रामनाम का जाप कर रहे थे और उनके पास बैठे महर्षि ने, अपना दायां हाथ उनके हृदय पर और बायां सिर पर रख रखा था। यह माना गया कि इस साध्वी वृद्धा ने महासमाधि प्राप्त कर ली है, इसलिए उनकी दाहक्रिया नहीं की गयी, बल्कि उनके शरीर को पर्वत-तल पर पालि तीर्थम् के निकट एक स्थान पर समाधिस्थ कर दिया गया और वहां काशी से लाये गये एक लिंग की स्थापना कर दी गयी। इस स्थान ने धीरे-धीरे एक तीर्थ का रूप ले लिया और 1948 में यहां एक देवालय खड़ा हो गया। यहां प्रतिदिन परंपरागत हिंदू अनुष्ठान-विधि से

मातृभूतेश्वर की पूजा होती है। माताएं मानव जाति के लिए हर कहीं अत्यंत पूजनीय रही हैं और उन्हें प्रचुर आदर-सम्मान मिलता आया है। इसलिए यह उपयुक्त ही था कि महर्षि को उनके पूर्वजों के धर्म से जोड़ने वाली सबसे मजबूत कड़ी एक मातृ-मंदिर हो—परंपरागत शैली से निर्मित और संचालित मातृ-मंदिर।

इस मंदिर में देवताओं के पीठ और आले हैं, पूजा और अनुष्ठान की सुनिर्धारित विधियां हैं, और यह इस प्रकार परंपरा से समृद्ध है। भक्तों को यहां मातृ-शक्ति में 'पिता और माता की मूर्त एकरूपता मिलती है, जिसके द्वारा उन्हें दोनों के अद्वैत की अनुभूति होती है। उधर, मातृ-भूतेश्वर की प्रतिमा में उन्हें स्वयं महर्षि की मां जैसी करुणा मिलती है। उसके बराबर ही ध्यान मंडप है, जो 1967 में महर्षि की समाधि पर बना था। मंदिर की जटिल नियमनिष्ठता के एकदम विपरीत, मंडप प्रकाश-युक्त, हवादार, विशाल और सादा है। और दोनों मिलकर धार्मिक अनुभूति के दो प्रमुख रूपों को चित्रित करते हैं : अतीत की विरासत—भक्ति, जो 'मां' के रूप में और माध्यम में संजोई गयी है, और भविष्य का अभिनव आलोक—ज्ञान, जो अभी निराकार है और जिसका साहसी अग्रदूत 'पुत्र' है।

6. रमणाश्रमम् और उसका क्रमिक विकास

स्कंदाश्रम में मां का देहांत मई, 1922 में हुआ था। 1916 से महर्षि वहीं रहते आ रहे थे। अरुणाचल की दक्षिणी ढलान पर एक भक्त द्वारा दान दी गयी जगह पर मां को समाधि देना, एक बीज बोने और एक परिवार की स्थापना करने जैसा सिद्ध हुआ। मां की मृत्यु के बाद महर्षि उनकी समाधि पर बार-बार जाने लगे। और दिसंबर, 1922 में तो एक बार वहां जाने के बाद वे स्कंदाश्रम लौटे ही नहीं। पर्वत के पाद-मूल में समाधि के बराबर ही वे टिक गये। इस तरह वह स्थान उसके बाद उनका स्थायी निवास हो गया और धीरे-धीरे एक आश्रम में विकसित होता गया, जो अब श्री रमणाश्रमम् कहलाता है।

इस प्रकार बिना किसी पूर्व-योजना के बने इस आश्रम का आरंभ फूस की छत वाले एक ओसारे से हुआ था। परंतु अब यहाँ बहुत-सी इमारतें खड़ी है। उनमें, बहुत-से साधकों के अनुसार, सबसे महत्त्वपूर्ण शायद वह पुराना मंडप है जहां महर्षि बीस साल से भी अधिक तक दिन-भर अपने 'कोच' पर बैठे रहते थे। वहां की स्पंदनशील नीरवता हमारे हृदय से 'ऐसी शक्ति और सुनिश्चितता के साथ' बात करती है 'जो 'शब्दों की क्षमता के बाहर है।'

महर्षि के जीवन-काल में बनी दूसरी इमारतें हैं; पाकशाला, बड़ा भोजन-कक्ष, गोशाला और मां की समाधि के ऊपर बना सुंदर शिल्पकला वाला मंदिर। आश्रम के निर्माण और उसकी गतिविधियों के इतने कुशल

संगठन के लिए कि वे तब से व्यवस्थित और सुचारु रूप में निर्विघ्न चल रही है, मुख्य श्रेय महर्षि के छोटे भाई स्वामी निरंजनानंद को जाता है, जो चिन्नस्वामी भी कहलाते थे। 1953 में चिन्नस्वामी की मृत्यु हो गयी। उसके बाद आश्रम में जो और इमारतें बनीं उनमें मुख्य हैं : महर्षि की समाधि के ऊपर का चैत्य (1967), और उसके चारों ओर बना प्रकाश-युक्त और हवादार विशाल ध्यान मंडल, जो 1970 में पूरा हुआ था।

महर्षि 26 वर्ष पर्वत पर या उसके आसपास रहने के बाद 28 वर्ष तक बराबर आश्रम में रहे। अरुणाचल से उनके इस लंबे और घनिष्ठ संसर्ग से प्राचीन परंपरा और महर्षि की मुख्य शिक्षा, 'शुद्ध अद्वैत' के बीच एक सुदृढ़ और जीवंत नाता स्थापित हो गया है। यह पर्वत मूर्तिमान् शिव है, इंद्रियातीत चैतन्य का दृश्य और मूर्त प्रतीक है—इस प्राचीन विश्वास को इस स्थान से महर्षि के गहरे लगाव से और बल मिला, और बार-बार दिये गये उनके इस आश्वासन से भी और बल मिला कि आत्म-स्मरण का एक सच्चा प्रयास किसी भी गंभीर साधक को मोक्ष की, शुद्ध चैतन्य की अनंतता की कम-से-कम एक झलक, एक सूक्ष्म झांकी तो दे ही सकता है।

पर्वत के दक्षिणी तल पर स्थित इस आश्रम में रहने लगने के बाद महर्षि ने अपने व्यवहार से यह स्पष्ट कर दिया कि लोगों को दर्शन देना और मौन या संक्षिप्त वाणी से 'पर्वत' के मुक्ति-संदेश को उन तक पहुंचाना ही अब जीवन में उनका एक मात्र कार्य है। आसपास से और दूर-दूर से अनगिनत साधक उनके पास आते थे, जो आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों पर होते थे, और उनके मन को उनके सान्निध्य में शांति स्पष्ट दृष्टि और शक्ति मिलती थी। उनका दर्शन, अभ्यागत से दृष्टि-विनिमय, उसकी बात सुनना और कभी-कभी एक नजर, एक मुस्कान, एक भंगिमा से उत्तर देना—उनकी कृपा का सबसे बड़ा वरदान होता था। हर तरह के लोग हर समय उनके पास जा सकते थे। वस्तुतः ऐसा लगता

है कि स्कंदाश्रम छोड़कर पर्वत-तल के उस आश्रय में रहना, जो बंगलौर जानेवाली मुख्य सड़क पर पड़ता है, उन्होंने इसीलिए पसंद किया कि वहां लोग आसानी से पहुंच सकते थे।

पहले वे बीच-बीच में गिरि-परिक्रमा किया करते थे। भक्तों को भी वे ऐसा करने की सलाह देते थे, क्योंकि उसका प्रभाव स्फूर्तिदायक होता था और उससे इस बृहत् पंचमुखी पर्वत के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न कोणों से और विभिन्न समयों में देखने का अवसर मिलता था। महर्षि के अनुसार, वास्तविक परिक्रमा आत्मा द्वारा आत्मा की परिक्रमा है, जो इस सत्य को बराबर याद दिलाती रहती है कि "हमारे अंदर लाखों लोक घूम रहे हैं।"

उन्होंने 1926 में पर्वत की परिक्रमा करना छोड़ दिया और कुछ वर्ष बाद रसोई के काम में हाथ बंटाना भी बंद कर दिया, क्योंकि अब वे मंडप में ही उपस्थित रहना चाहते थे। उनके स्नान, भोजन, सुबह-शाम घूमने और थोड़ी देर विश्राम का कार्यक्रम सबको मालूम था, और हर काम ठीक समय पर होता था। उनकी और आश्रम की हर चीज स्वच्छ, व्यवस्थित और पहले से जानी-बूझी होती थी। एक बार उनसे भारत के पवित्र धामों की यात्रा करने की प्रार्थना की गयी, जिससे कि देश के अन्य भागों के लोगों को भी उनके दर्शन का सौभाग्य मिल सके। इस सुझाव को हंसी में उड़ाते हुए वे बोले : "यदि मैं गया तो एक लंगोटी में घूमने वाले इस भिखारी की ओर ध्यान ही कौन देगा? या मैं माथे पर एक लेबिल लगाकर या गले में एक तख्ती लटकाकर जाऊं, जिसमें यह घोषणा हो, 'यह महर्षिजी आ रहे हैं?' या मैं अपने साथ अनुचरों का एक बड़ा दल रखूं जो यह चिल्लाता चले, 'यह हमारे महान रमण महर्षि पधार रहे हैं'।"

अपनी आखिरी बीमारी में अंत तक उनका यही आग्रह रहा कि दर्शन

के लिए जो भी आयें उन सबको आने दिया जाय। अपने जिन गुणों के कारण वे हजारों लोगों के इतने प्रिय हो गये उनमें शायद सबसे आकर्षक उनकी सुलभता थी, बहुत ही आसानी से उन तक पहुंचा जा सकता था और उनका स्वभाव अत्यंत विनम्र और सरल था। उतना ही मधुर और सहज उनका व्यवहार होता था, सभी अवसरों पर और हर बात में वे सबके साथ समान आचरण पर जोर देते थे। अपने को सब के साथ उन्होंने इतना एकात्म कर दिया था कि वे अपने अस्तित्व को आसपास के लोगों के साथ बांटते लगते थे। उनकी जीवन-प्रणाली इतनी सहज और मानवीय थी, बर्ताव इतना स्वाभाविक और मुक्त होता था कि आगंतुक तुरन्त ही उनके साथ अपने को सहज अनुभव करने लगता था। अपने बारे में वे कभी विशेष अधिकारों या शक्तियों का दावा नहीं करते थे। वे उन लोगों में से नहीं थे जो दर्शकों को बीच से कुछ ही मिनटों में बने किसी जादुई आम को दिखाकर मुग्ध करते हैं। उनका आम तो सचमुच के पेड़ पर कई साल के स्वाभाविक विकास के बाद उगा, प्रकृति का सुपरिचित रहस्य, सचमुच का आम था। उनकी दिनचर्या इतनी सामान्य थी, व्यवहार इतना सरल था कि एक आगंतुक ने एक बार ताना मारते हुए देवराज मुदलियार से कहा, "आपके इन 'भगवान' में ऐसा क्या है जिसमें आप इन्हें सिद्धपुरुष समझते हैं? ये तो हमारी ही तरह खाते है, सोते है और अन्य सब काम करते हैं।" मुदलियार ने उन्हें समझाया कि जीवन्मुक्त में कोई ऐसे बाहरी चिह्न नहीं होते जिनसे उसे पहचाना जा सके, ज्ञानी को ज्ञानी ही पहचान सकता है। वस्तुतः कई बार ऐसा हुआ कि अनजान आदमी महर्षि को, अकेले या औरों के साथ, किसी काम में व्यस्त और तल्लीन देखकर, राज-मजदूर या रसोइया समझ बैठे और बड़े भोलेपन से उन्हीं से यह पूछने लगे कि यहां के प्रख्यात साधु महाराज के दर्शन कहां होंगे। महर्षि की सहजता का एक छोटा-सा किंतु अर्थपूर्ण चिह्न

यह था कि वे अपने लिए नान ('मैं') शब्द का प्रयोग करते थे, अहं को मिटाने के लिए सोच-समझकर प्रयुक्त किये जाने वाले इदु ('यह') शब्द का नहीं, जबकि उन्होंने अगस्त, 1896 में घर से विदा होते समय पुर्जे में उसी का प्रयोग किया था और बहुत-से साधु उसी को अधिक पसंद करते हैं। महर्षि जहां स्वयं को 'मैं' कहते थे, वहां अन्य लोग उनकी चर्चा करते हुए, और उनसे बात करते हुए भी, उनके लिए अवैयक्तिक शब्द आदु ('वह') का प्रयोग करने को ही अपने को बाध्य अनुभव करते थे। जीव-जंतु और बच्चे उन्हें निःसंकोच अपनी ही जाति का—प्रकृति का एक जीव—मान लेते थे। परंतु लोगों ने सामान्य परंपरा के अनुसार उन्हें 'भगवान' (प्रबुद्ध) नाम देकर अपने से अलग अपने से ऊपर रखा।

सरल जीवन, मितव्ययिता और चीजों की बरबादी व फिजूल खर्ची को रोकने की शिक्षा वे आश्रमवासियों को उपदेश से नहीं बल्कि स्वयं अपने उदाहरण से देते थे। डाक में जो लिफाफे और पुस्तकों आदि पर लिपटा कागज निकलता, उस सबको वे लिखने या अन्य कामों के लिए संभालकर रख लेते। नारियल के खोलों के वे प्याले और चम्मच बना लेते, उन्हें आबनूस जैसा चमका लेते और सहायकों से कहते, इन्हें संभालकर रखना और ध्यान से इस्तेमाल करना, "ये हमारे चांदी के प्याले और सोने के चम्मच हैं।" संतरे के छिलके अचार बनाने के लिए और मुरझाये गुलाब की पंखुड़िया पायस (खीर) को सुगंधित करने के लिये बचायी जाती थीं। वे बड़ी मेहनत से पांडुलिपियों और प्रूफों का संशोधन करते, पद्यों को बिलकुल शुद्ध सुंदर अक्षरों में उतारते, जिल्दसाज की-सी कुशलता से पुस्तकों की जिल्द बांधते, सब्जियां काटते, पत्तलें बनाते, और रसोई के कामों में हाथ बंटाते थे, और इस प्रकार श्रम की गरिमा और सादगी की मनोहरता का उदाहरण प्रस्तुत करते थे। कर्म उनके लिये कोई विशेष कर्मकांड नहीं बल्कि रोजमर्रा के वे काम थे जो हम सभी को करने होते हैं।

श्री रंगाचारी, जो वेल्लूर के एक कालेज में तेलुगु के अध्यापक हैं, 1935 की एक घटना सुनाते हैं। उन्होंने महर्षि से निष्काम कर्म क्या है, यह समझाने की प्रार्थना की। उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। कुछ देर बाद महर्षि कुछ भक्तों के साथ, जिनमें रंगाचारी भी थे, पहाड़ पर गये। रास्ते में मोटी, मजबूत, कंटीली डाल पड़ी थी, जो महर्षि ने चलते-चलते उठा ली। उन्होंने उसके कांटे काट डाले, गांठें छीलकर इकसार कर दीं और सतह को एक खुरदरे पत्ते से रगड़कर चमका लिया। काफी देर बड़े ध्यान से उस पर मेहनत करने से एक बढ़िया छड़ी बन गयी। वह छड़ी महर्षि ने एक राह-चलते छोकरे चरवाहे को दे दी, जो अपनी लाठी खो जाने के कारण बड़ा उदास दिख रहा था। रंगाचारी का कहना है कि उस दिन उन्होंने शिक्षण कला का एक नया पाठ सीखा; महर्षि का वह मूक व्यवहारिक प्रदर्शन उनके गंभीर प्रश्न का परिपूर्ण उत्तर था।

आश्रमवासियों और आगंतुकों की संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही थी, इसलिए आश्रम को भी फैलाना ही था। महर्षि जब स्कंदाश्रम में थे तभी एक नियमित पाकशाला चालू हो गयी थी और उनके पुराने मित्र शेषाद्रि स्वामी मजाक में कहा करते थे कि छोटे स्वामी के आश्रम में भक्तों को स्वादिष्ट मिष्ठान्न मिलता है। अन्य लोगों ने भी यह बात कही है कि उनका प्रसाद स्वादिष्ट, स्वास्थ्यकर आहार तो था ही, दिव्य कृपा का सूचक भी था और रमणाश्रमम् में दोनों अग्नियां— स्वयं महर्षि और पाकशाला की अग्नि—एक-सी दीप्त और प्रज्वलित रहती हैं और अभ्यागतों के हृदयों को उल्लासित करती हैं। जिसे हम अलौकिक कहते है वह कोई पृथक चीज नहीं है, अपितु वह चेतना ही है जो प्राकृतिक को भरती है और रूप देती है।

नये बड़े आश्रम में, जिसके ध्यान मंडल और भोजन-कक्ष खूब लंबे चौड़े थे, विशिष्ट वर्ग के दर्शनार्थियों की प्रवृत्ति महर्षि के निकट आगे

की पंक्ति में बैठने की रहती थी। परंतु वे पहले ही की तरह, स्वयं आगे बढ़कर निर्धनों और दीनों को पहचान लेते थे, उनसे कुशल-क्षेम पूछने लगते थे, और इस प्रकार उन्हें निश्चित कर देते थे। मंदिर के त्यौहार के अवसर पर एक बार भक्त जन आश्रम में बांटने के लिए बहुत-सारी मिठाई लाये। तभी एक बुढ़िया, लाठी से अपनी राह टटोलती हुई, बड़ के पत्ते में लिपटे कुछ 'दोसे' हाथ में लिये वहां आ पहुंची। अपनी भेंट जब वह महर्षि को ही सीधे देने लगी तो कुछ परिचारकों ने उसे रोकने की कोशिश की। परंतु महर्षि ने स्वयं हाथ फैलाकर वे 'दोसे' ले लिये, उससे उसकी कुशल-क्षेम पूछी और आसपास के लोगों से बोले "बेचारी बुढ़िया जो कुछ ला सकती थी, वही लायी है। मैं जब पर्वत पर रहता था तो यह और इसका पति जब-तब मेरे पास आते थे और खाने को कुछ-न-कुछ लाते थे। पहले इसके पति की मृत्यु हुई और फिर भाई की। तब से यह इधर-उधर रह रही है और 'दोसे' बनाकर और बेचकर अपना गुजारा कर रही है। मां की समाधि के पास इसी ने मेरे बैठने के लिए एक चबूतरा बनाया था और उसे ताड़ के पत्तों से छा दिया था। उससे पहले मैं पेड़ के नीचे ही बैठा करता था। बूढ़ी हो जाने के कारण अब यह यहां उतना नहीं आती है।" उसके बाद उन्होंने मंदिर की मिठाई लेने से साफ इनकार कर दिया और बुढ़िया के लाये उन बासी मोटे-मोटे 'दोसों' को ही स्वाद ले-लेकर खाते रहे।

खाने के समय भोजन-कक्ष में पार्टीशन की दायीं ओर कुछ पुरातनपंथी ब्राह्मण बैठते थे और बायीं ओर अन्य लोगों की भारी संख्या होती थी। महर्षि पार्टीशन के बिलकुल सामने बैठते थे, जिससे उनका मुंह दोनों की तरफ रहता था। वे सनातनियों की भावना को ठेस नहीं पहुंचाना चाहते थे और न ऐसे 'समाज-सुधार' को बढ़ावा देना चाहते थे जो भीतरी परिपक्वता के बिना जबर्दस्ती बाहरी परिवर्तन लादता है। वे स्वयं-

अस्पृश्यों और नीची जातवालों के साथ तथा बिना जातवाले विदेशियों के साथ निःसंकोच उठते-बैठते थे। जो लोग उनकी देखभाल करते थे और उन्हें उनका अंगोछा या पीने को जल आदि देते थे वे किसी विशेष जाति के नहीं होते थे। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एक ही अवसर ऐसा ज्ञात है जब महर्षि ने किसी को मंत्र दिया, और उसे पानेवाला एक अस्पृश्य था। वह दीन भक्त, जो आश्रम की परिक्रमा किया करता था, एक बार महर्षि को फाटक पर देखकर उनके चरणों में लोट गया और कहने लगा। मुझे उपदेश दीजिए। उस बेचारे पर करुणा से द्रवित होकर महर्षि बोले : " 'शिव' शिव 'जपते रहो, उसी से तुम्हारी रक्षा होगी।"

वेदपाठ, भजन, मौन ध्यान और अभ्यागतों के साथ गंभीर वार्तालाप के दैनिक नित्यकर्म को महर्षि अपने परिहास से बीच-बीच में हलका कर देते थे, और पुराने भक्त उसमें उनका साथ देते थे। एक बार भक्त जन मिलकर "रमण सत् गुरु, रमण सत् गुरु रायने" की टेक का कीर्तन कर रहे थे कि महर्षि भी उसमें शामिल हो गये और ताल दे-देकर उनके साथ गाने लगे। बाद में उन्होंने समझाया कि दिखाई और सुनाई देनेवाला यह शरीर भी औरों के साथ सत् गुरु की, जो हरेक के हृदय में है, स्तुति कर सकता है। एक और अवसर पर जब परिचारक उनके घुटने पर कोई मरहम मल रहे थे वे स्वयं अपने घुटने की मालिश करने लगे और बोले, "अपने लिए थोड़ा पुण्य मैं भी क्यों न कमा लूं ?" एक बार तिरुचुली से एक महिला, जो स्कूल के दिनों की उनकी साथी थी, आश्रम आयी। उन्हें वह जो नारियल अर्पित करना चाहती थी उसे फोड़ने से पहले वह उसकी जटा हटाने लगी। परन्तु इसी बीच उन्होंने उसके हाथों से नारियल ले लिया, उसकी जटा साफ की और उसे खुद ही फोड़ दिया, जिस पर वहां उपस्थित सभी लोग हंसने लगे। उपासक का हाथ आखिर क्यों न बंटाया जाय ?

मुदलियार दादी, जो बहुत वर्षों से उनकी भक्त थीं, महर्षि के लि

प्रतिदिन कुछ भोजन लाया करती थीं। एक बार उन्होंने उनसे कहा, "तुम मुझे इतना भोजन परोस रही हो जितना मैं खा नहीं सकता।" उन्होंने बड़ी बेतकल्लुफी से जवाब दिया, "नहीं, ऐसा तो मैं कुछ नहीं कर रही हूं", और उनकी पत्तल पर एक मुट्ठी और डालते हुए बोलीं, "यह तो सब मन की बात है, क्या नहीं ?" उन्होंने हंसते हुए अपनी पराजय स्वीकार की और मुंह बनाते हुए कहा, 'इसने तो मेरी बात मेरे ही सिर मार दी।"

भोजन-कक्ष में फल और विशेष व्यंजन पहले औरों को परोसे जाते थे और अंत में महर्षि को, ताकि सबको बराबर का भाग मिल सके। वे कहते, "यदि संयोग से मेरे लिए कुछ न बचे, तो कोई बात नहीं। यहां के सब लोग यदि खा लेते हैं, तो समझ लो मैंने खा लिया।" जब उन्हें फल या बादाम जैसा कोई विशेष पथ्य लेने की सलाह दी गयी तो उन्होंने यह कहकर इनकार कर दिया, "मैं तो दरिद्रनारायण हूं। मैं यह सब कैसे कर सकता हूं ? मैं क्या अकेला व्यक्ति हूं ? देखो न, मेरा कितना बड़ा परिवार है। इन सबको फल, बादाम आदि कैसे मिल सकते हैं ?"

पुरी के शंकराचार्य जब आश्रम आये तो उन्होंने, अपनी परंपरानुसार, महर्षि को एक बेलदार शाल और 116 रुपये की भेंट देनी चाही। समझा-बुझाकर किसी तरह उन्हें रुपये वापस लेने को और महर्षि को शाल स्वीकार करने को राजी किया गया। फिर भी महर्षि ने बाद में शाल पर से बेल निकाल दी, किनारे सिलवा लिये और उसका उपयोग जाड़ों में ओढ़ने के लिए किया।

आंध्र के एक दंपति आश्रम में दो महीने से रह रहे थे। पत्नी ने जब घर लौटना चाहा और पति उसके लिए राजी नहीं हो रहा था, तो महर्षि ने कहा, "भले आदमी, अपना परिवार छोड़कर तुम जा कहां सकते हो ? क्या तुम ऊपर आकाश में उड़ सकते हो ? आखिर तो तुम्हें इस धरती पर रहना है। जहां भी तुम हो वहीं परिवार है। मैं यह सोचकर चला आया

था कि मैं सब कुछ छोड़ रहा हूं। लेकिन देखो, मेरा अब कितना बड़ा परिवार है। तुम्हारे परिवार से यह सौ गुना बड़ा है।" एक और अवसर पर उन्होंने खिन्न होकर कहा, "मेरी मां जब गुजरी तो मैंने सोचा था कि मैं अब बंधन से छूट गया और किसी गुफा-वुफा में एकांत में रह सकता हूं। परंतु वस्तुतः मैं अब और भी ज्यादा बंधन में हूं। मैं बाहर तक नहीं जा सकता।" जैसा कि सूरि नागम्मा बताती हैं, इसका कारण यह था कि "मां तो उनकी एक थी, पर उनके बच्चे हजारों थे।" बाद में (1945 में) उन्होंने एक बार असंतोष प्रकट करते हुए कहा, "साधु होना बड़ी टेढ़ी खीर है, यह बात मैं पचास साल के अनुभव से कह रहा हूं। इन्होंने मेरे चारों ओर जंगला खड़ा कर दिया है, जिसे मैं पार नहीं कर सकता। बारी-बारी से मुझपर नज़र रखने के लिए लोग विशेष रूप से नियुक्त हैं। अपनी इच्छानुसार मैं घूम नहीं सकता। इसमें और जेल में फर्क ही क्या है?"

7. रमणाश्रमम् : सान्निध्य का प्रभाव

महर्षि के यश और संदेश को पश्चिम में फैलाने में जिनका बहुत अधिक योग रहा, वे थे पॉल ब्रंटन। महत्त्व की बात यह है कि उन्हें महर्षि के पास भेजनेवाले आध्यात्मिक जगत की महान विभूति, कांची के शंकराचार्य, परम पुनीत श्री चंद्रशेखर सरस्वती थे। महर्षि की मौन उपस्थिति का पॉल ब्रंटन पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन वे इस प्रकार करते हैं : "अपनी अपलक दृष्टि मैं उनपर से हटा नहीं सकता। शुरू में अपनी पूर्ण उपेक्षा से संभ्रम और हतबुद्धिता की जो भावना पैदा हुई थी वह धीरे-धीरे लुप्त हो रही है और यह विचित्र सम्मोहन मुझे अधिकाधिक वशीभूत करता जा रहा है। और फिर, इस असाधारण दृश्य के दूसरे घंटे में, मैं यह अनुभव करने लगता हूं कि मेरे मन में एक मूक परिवर्तन निर्बाध चल रहा है। रेल में मैंने जो प्रश्न इतनी सावधानी और बारीकी से तैयार किये थे, वे एक-एक कर समाप्त हो रहे हैं, क्योंकि जो समस्याएं मुझे अब तक परेशान किये थीं उन्हें सुलझाना अब जरा भी महत्वपूर्ण नहीं लगता। मैं केवल यही जानता हूं कि नीरवता की एक अजस्र धारा मेरे निकट बह रही है, एक महान शांति मेरे अस्तित्व के अंतर्तम तक पहुंच रही है, और विचारों से उत्पीड़ित मेरे मस्तिष्क को अब विश्राम मिलने लगा है।" सिद्धांत पर जीवंत व्यक्तित्व की प्रधानता, जिसके अनुभव का साक्षी यह अंग्रेज पत्रकार है, हिंदू परंपरा का अंग है और हाल ही में स्वयं कांची के शंकराचार्य ने इसकी पुष्टि इन शब्दों में की है : "कोई भी धर्म अपने सिद्धांतों के कारण

नहीं फैलता। लोग सिद्धांत की कोई खास परवाह नहीं करते। जब कोई मनुष्य ऐसा प्रकट होता है जिसके जीवन और आचरण में असाधारण अच्छाई होती है, जो करुणा और शांति से पूर्ण होता है, तो लोग उसको एक नज़र देखते ही उस पर विश्वास करने लगते हैं। उसकी शिक्षा को वे स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास होता है कि इस तरह का मनुष्य जिन सिद्धांतों का समर्थन कर रहा है उनमें जरूर सार होगा। दूसरी ओर, कोई सिद्धांत चाहे कितना ही सारवान् या सच्चा हो, पर यदि उसके समर्थक आचरण में विफल रहते हैं तो वह जन-साधारण को आकर्षित नहीं करता।" महर्षि ने अपना सिद्धांत उसके अनुरूप जीकर, अपने हर शब्द और कार्य में उसे मूर्त रूप देकर फैलाया।

ब्रंटन कहते है कि महर्षि ने उन्हें बताया : "सभी मनुष्य सदा सुख चाहते हैं, दुख से अछूता सुख···यह सहज प्रवृत्ति वास्तविक है।···परंतु उन्हें सबसे अधिक प्रेम अपने आप से होता है···वे किसी-न-किसी उपाय से, मद्य से या धर्म से सुख पाना चाहते हैं···मनुष्य का वास्तविक स्वभाव सुख है। उसकी सुख की खोज अचेतन रूप से अपनी आत्मा की खोज है। 'मैं' के सूत्र का मनसा अनुसरण करते हुए यदि तुम उसके मूल स्रोत तक पहुंच सको, तो तुम पाओगे कि जिस तरह 'मैं' भाव सबसे पहले प्रकट होता है, उसी तरह सबसे अंत में लुप्त होता है···मनुष्य की सबसे बड़ी भूल यह सोचना है कि वह स्वभावतः दुर्बल है, स्वभावतः दुष्ट है। प्रत्येक मनुष्य अपने वास्तविक स्वभाव में दिव्य और शक्तिशाली है। दुर्बल और दुष्ट उसकी आदतें और इच्छाएं है, उसके विचार हैं, वह स्वयं नहीं है।"

मेजर चाड्विक, ब्रंटन के विवरण को पढ़ने के बाद, 1935 में तिरुवण्णामलै आये। महर्षि पर पहली दृष्टि डालते ही उनमें जो प्रतिक्रिया हुई उसके बारे में वे कहते हैं : "उनके सान्निध्य में मुझे अत्यंत शांति की, उनकी करुणा की अनुभूति हुई। ऐसा कतई नहीं लगा कि मैं उनसे पहली

बार मिल रहा हूं । बल्कि, ऐसा महसूस हुआ जैसे मैं उन्हें सदा से जानता हूं···वे एक दर्पण की तरह थे जो आपकी अपनी भावनाओं को प्रतिबिंबित करता लगता था। यदि आप मूक और भयभीत रहें तो वे आपको मूक और अलग-थलग से लगेंगे, परंतु यदि आप उनकी उपस्थिति के व्यापक प्रेम के प्रति स्वाभाविक रूप से संवेदनशील हों तो उनका व्यवहार आपके प्रति बिलकुल अपनों-जैसा होगा।" महर्षि से यह सीखकर कि मन विचारों का बना है और सभी विचारों का मूल 'मैं' का विचार है, चाड्विक ने अपने अहं के मरने और दफ़न होने को नाटकीय रूप देने के लिए एक छोटी-सी समाधि-जैसी बना ली थी, ताकि वह वहां चुपचाप विश्राम कर सके ओर उनका पीछा करने के लिए कभी वापस न आये। वे आश्रम के स्थायी निवासी बन गये थे और वेदपारायण तथा मंदिर के अनुष्ठानों में बहुत रुचि लेते थे ।

के सुब्रह्मण्यम्, जो एक कालेज में अध्यापक थे, महर्षि से (1940 में) अपनी पहली भेंट को अपने जीवन की सबसे बड़ी अनुभूति बताते हुए कहते हैं : "मन अपने अस्तित्व का हल्का-सा भी दावा कर सकने से पहले ही निश्चल हो गया। उसकी जगह 'भगवान' की नीरव चेतना थी जिसमें केवल शांति विराजती थी। हम जिसे अब तक 'नीरवता' कहते आये थे वह इससे बिलकुल भिन्न थी। वह वाणी को थोड़ा विश्राम देना होता था, जिसका प्रयोजन संभवत: चुकी हुई ऊर्जा की पूर्ति रहता था, जिससे कि वाणी फिर चालू हो सके; या वह एक तरह की आंतरिक बकबक होती थी, झटके से आनेवाले विचारों का एक सिलसिला जिनकी अभिव्यक्ति केवल दूसरों को सुनायी नहीं देती थी···वह क्षण बीत गया, परंतु मेरे अस्तित्व को उर्वर कर गया। नीरवता और निर्जनता उसके बाद फिर कभी मुझे भयभीत नहीं कर पायी। निर्वाण और शून्य अब ऐसे शब्द थे जो मन में सम्मान और स्वागत का भाव पैदा करते थे, भय और घबराहट नहीं।"

दुविधाग्रस्त और व्याकुल नर-नारियों को जहां महर्षि के सान्निध्य में शांति मिलती थी, वहां पशु-पक्षी उनके साथ अपने को पूर्ण निश्चित अनुभव करते थे। वे जब पर्वत पर कंदराओं में रहते थे तो सांप और बिच्छू कई बार उनके शरीर पर रेंगने लगते थे—वे न उन्हें भयभीत करते थे न आप भयभीत होते थे। रमणाश्रमम् में 'लक्ष्मी' नाम की गाय थी जिससे उन्हें बहुत स्नेह था। उसके अलावा, बहुत-सी गिलहरियां, चिड़ियां, मोर, कुत्ते और बंदर थे जो वहां बड़े मज़े से रहते थे और महर्षि उनका दयापूर्वक उतना ही ध्यान रखते थे जितना कि वे आश्रमवासियों या आगंतुकों का रखते थे। और कभी-कभी जब आश्रम का कोई पालतू जीव मर जाता था तो उसे दबा दिया जाता था और उस स्थान पर उसकी स्मृति मे स्नेहपूर्वक एक समाधि बना दी जाती थी।

एक बार बंगलौर से एक भक्त भेंट करने के लिए कबूतरों का एक जोड़ा लाया। महर्षि नहीं चाहते थे कि आश्रम के कामों में और वृद्धि हो, क्योंकि कबूतरों की देखभाल, उन्हें दाना चुगाना, बिल्लियों से उनकी रक्षा आदि जरूरी थी। परंतु भक्त के जोर देने पर उन्होंने वह भेंट स्वीकार कर ली। कबूतरों को लेकर उन्होंने कुछ देर स्नेह मे सहलाया और फिर समाधि में लीन हो गये। पिंजड़ा तलाश करने और लाने में कोई एक घंटा लग गया। वे कबूतर उतनी देर महर्षि की गोद में निश्चित बैठे रहे, मानो वे दोनों भी योगी हों और समाधि में लीन हों। महर्षि बोले, "कौन जानता है ? ये आ गये हैं और अब जाने का नाम नहीं लेते। एक और परिवार मेरे साथ जुड़ गया, मानो जो पहले से हैं वे काफी न हों।"

जीव-जंतुओं को केवल मित्र ही नहीं, शिक्षक भी समझना चाहिए। उन्होने एक बार कहा था, "गिलहरियों में एक बड़ी बात है। तुम इनके आगे चाहे कितना ही आहार रख दो। ये केवल उतना ही खायेंगी जितना जरूरी है बाकी छोड़ देंगी। चूहा ऐसा नहीं होता। उसे जो कुछ मिलता

है सब ले लेता है और अपने बिल में इकट्ठा कर लेता है।" उपस्थित लोगों में से एक ने कहा, "शायद यह कहा जा सकता है कि गिलहरी उतनी बुद्धिमान जीव नहीं है, क्योंकि वह भविष्य की योजना या व्यवस्था नहीं करती, बल्कि वर्तमान में जीती है।" महर्षि ने जवाब दिया, "हां, योजना बनाने और तुच्छता से जीने को, जैसे कि हम जीते हैं, हम बुद्धिमानी समझते हैं। देखो न, इस दुनिया में कितने पशु-पक्षी बिना योजना के और बिना कुछ संग्रह किये जीते हैं बंदर भी न घर बनाते हैं न कुछ संग्रह करते हैं। जो कुछ मिलता है वे खा लेते हैं। और रात होने पर पेड़ों पर आकर बैठ जाते हैं। वे खूब सुखी हैं।" एक और अवसर पर उन्होंने कहा, "भोजन जब सब के लिये पर्याप्त होता है, तो बंदर न तो आपस में लड़ते है और न एक-दूसरे को काटते हैं। झगड़ा तभी होता है जब कमी होती है।"

यह मानने के लिए हमारे पास कारण है कि महर्षि पशु-पक्षियों की बोली समझ लेते थे। मद्रास के भूतपूर्व न्यायाधीश, श्री अनतनारायणन् लिखते हैं :

> "भगवान' लिखने में व्यस्त थे कि सहसा वे कागज-पत्रों और अपने चश्मे को अलग रख देते हैं और परिचारक को आवाज देते हैं।
>
> 'चिड़ियों का यह जोड़ा अभी-अभी यहां आया और मुझसे शिकायत करने लगा कि इनका घोंसला हटा दिया गया है। मैंने ऊपर देखा तो पता चला कि इनका घोंसला गायब है·· माधव, क्या किसीने इन चिड़ियों का घोंसला हटाया है?'
>
> परिचारक बताता है कि उसीने ऐसा किया है, क्योंकि 'भगवान' के 'कोच' के ठीक ऊपर इनके घोंसला बनाने से बड़ी असुविधा हो रही थी। 'भगवान' कहते हैं : 'यही बात है। तभी तो चिड़ियों ने शिकायत की। बेचारी नन्हीं-सी जानें··

जो सदा प्रेम में है उसके लिए सब-कुछ उजागर है, और पशु-पक्षी उस ज्ञानी से उसी तरह बात करते हैं जैसे कि वे एक-दूसरे से करते हैं।"

एक कश्मीरी नौकर ने एक बार बड़ी संजीदगी से अपने मालिक को बताया था कि महर्षि ने उससे उसकी मातृभाषा में बात की है। यह बात सच हो या मात्र एक भ्रम, पर महर्षि का संस्कृत, मलयालम और तेलुगु का ज्ञान, जो उन्होंने यों ही अनायास सीख ली थी, निश्चय ही आसाधारण था। अंग्रेजी में वे यद्यपि कभी-कभार ही बोलते थे, पर वे उस भाषा को अच्छी तरह समझ लेते थे और जरूरत पड़ने पर 'रिग्रेसस एंड इंफिनटम'[1] और 'ऑटोमेटिक डिवाइन एक्टिविटि'[2] जैसे मुहावरों का प्रयोग बहुत ही उपयुक्त ढंग से करते थे। अंग्रेजी बाइबिल और शैक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, शेली और कीट्स की रचनाओं की चिरजीवी दार्शनिक उक्तियों को वे बड़ी रुचि से सुनते और सराहते थे। 'फर्स्ट कोरिंथियंस'[3] के अध्याय तेरह में प्रेम कि जो उच्छ्वसित प्रशस्ति है वह उन्हें उसी तरह गद्गद् कर देती थी जैसे कि महात्मा गांधी को कर देती थी। ईसाई और गैर-ईसाई श्रोताओं के लिए वे प्रायः बाइबिल के निम्नलिखित मूल वचन उद्धृत किया करते थे :

निश्चल हो जा और यह जान कि मैं ईश्वर हूं।—साम, छियालीस—10
वह मैं हूं मैं ही हूं। —ऐक्सोडस, तीन—14
ईश्वर का साम्राज्य तेरे अंदर है। —सेंट लुके, सत्रह—21
इब्राहीम हुआ उससे भी पहले से मैं हूं। —सेंट जॉन, आठ—58
मैं और मेरा पिता एक ही हैं। —सेंट जॉन, दस—30

---

[1]अंतहीन पश्चाद्गमन

[2]स्वचालित दिव्य क्रिया-कलाप

[3]बाइबिल का एक भाग

कीट्स की कविता 'ओड टु द नाईटिंगेल' पर उनकी टिप्पणी थी : "पहले पद में जो पक्षी है वह 'जीव' है जो फल खाता है और गीत गाता है; जबकि सातवें पद का 'अमर पक्षी' 'जो मरने के लिए नहीं जन्मा है, चेतना का प्रतीक वह पक्षी है जो केवल देखता है।" इस्लाम की प्रशंसा में वे कहते थे कि 'इस्लाम' शब्द का अर्थ और उसका मुख्य उपदेश है, परम सत्ता के आगे आत्मसमर्पण और उसकी शरण जाना। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के डॉ. एम.हफीज सैयद पर महर्षि के सान्निध्य और शब्दों का यह असर पड़ा कि उनकी अपनी आस्था और पुष्ट और समृद्ध हो गयी। इसके सिवा, उन्हें उनकी शिक्षा में आधुनिक वैज्ञानिक, विशेषतः मनोवैज्ञानिक, चिंतन की परिणति दिखाई पड़ी। डॉ. सैयद कहते हैं :

> उनका सीधा, सरल और अकृत्रिम दर्शन, जो उनके दैनिक आचरण में स्पष्ट प्रतिबिंबित है, जीवन के रहस्य को खोलता है और हमारी आज की कुछ जटिल सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक समस्याओं को व्यावहारिक ढंग से सुलझाता है। परंतु अरुणाचल के महर्षि न तो किसी मत विशेष के शिक्षक हैं, न कोई धर्म-प्रचारक या सुधारक ही हैं। वास्तव में वे एक आध्यात्मिक वैज्ञानिक हैं। अपनी अंतर्दृष्टीय प्रतिभा से, जो विवेक को आत्मसात् कर चुकी है, उन्होंने अज्ञात का अन्वेषण किया है और सत्य पर पहुंचने के लिए वैज्ञानिक तरीका अपनाया है। उन्होंने स्वयं अपने प्रयास और गहरे अंतर्निरीक्षण से आत्मज्ञान प्राप्त किया है। आधुनिक वैज्ञानिक किसी सचाई की खोज केवल अपने लिए नहीं, बल्कि सारी मानव जाति के लिए करता है जिसमें सभी नस्लें और सभी राष्ट्र आ जाते हैं। अपना ज्ञान वह उन लोगों को जिन्हें उसकी चाह है, स्वेच्छा से बांटता है। श्री महर्षि भी बड़े धैर्य के साथ किये गये अपने अन्वेषण और अनुसंधान के परिणाम को

वैज्ञानिक की तरह, अपने शिष्यों और इस विषय के उत्साही अध्येताओं को दे देते हैं, ताकि आध्यात्मिक प्रकाश की मशाल पीढ़ी-दर-पीढ़ी जलती रहे।

वे वू वे (टेरेंस ग्रे) को, जिन्होंने अद्वैत और बौद्ध धर्म पर बहुत से सटीक ग्रंथों की रचना की है, महर्षि मे दोनों परंपराओं का आधुनिक संगम मिला। वे कहते है :

> हमारे जमाने में और कौन ऐसा है जिसके बारे में युक्तियुक्त रूप से यह कहा जा सके कि वह आधी शताब्दी तक ईश्वर के साथ तादात्म्य की ऐसी पूर्ण स्थिति में रहा है जैसी कि किसी व्यक्ति में प्रत्यक्ष अभिव्यक्त हो सकती है, और सभी के लिए सभी समय उपलब्ध रहा है ? और कौन ऐसा है जिसके बारे में यह कहा जा सके कि हममें से सैकड़ों व्यक्तिगत रूप से उसे ऐसा जानते थे ? इस तरह की विभूति को अपने समकालीन पाना—और उसके शब्दों और जीवन की तुलना धर्मग्रंथों में अवशिष्ट प्राचीन ऋषियों के शब्दों और वर्णनों से कर सकना, कितनी अद्भुत बात है। अकेले 'भगवान' में ही हम उन शब्दों और धर्मग्रंथों को कसौटी पर कस सकते है और स्वयं यह देख सकते हैं कि वे केवल स्वप्न या कल्पना मात्र नहीं हैं।

आर्थर ऑजबर्न 1945 में तिरुवण्णामलै आये और आश्रम में रहने लगे। उनकी पत्नी और बच्चे वहां पहले ही रह रहे थे। महर्षि के जीवन और उनकी शिक्षा पर बाद में उन्होंने बहुत-कुछ लिखा और बड़ी अंतर्दृष्टि साथ लिखा। 1964 में उन्होंने त्रैमासिक पत्र 'माउंटेन पाथ' की स्थापना की और 1970 से अपनी मृत्यु तक उसका संपादन करते रहे।[1] ऑजबर्न को

[1]बाद में कई वर्ष तक उनकी पत्नी, लूसिया ऑजबर्न इस पत्र का संपादन करती रहीं।

इस बात पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि महर्षि से पहली भेंट का उनपर "कोई बहुत प्रभाव नहीं पड़ा, उनके चित्रों से पड़े प्रभाव से तो वह निश्चय ही बहुत कम था।" कई सप्ताह बाद, एक दिन सायंकाल, "भगवान' अपने 'कोच' पर सहारा लिये लेटे थे और मैं सामने अगली पंक्ति में बैठा हुआ था। अचानक मेरी ओर मुंह कर वे उठ बैठे, और उनके संकुचित नेत्र मुझे बेधते चले गये। वह दृष्टि इतनी पैनी, अंतरंग और गहरी थी कि मैं बता नहीं सकता। और तब नीरवता, गहरी शांति, एक अनिर्वचनीय हलकेपन और सुख की अनुभूति हुई। शुरू में मैं यह समझा ही नहीं कि यह 'दृष्टि-दीक्षा' थी जिसने मुझे जीवंत कर दिया और मेरे मन की प्रवृत्ति बदल दी। बाद में ही कहीं मुझे यह पता चला कि अन्य 'भक्तों' को भी ऐसा अनुभव हुआ है और उनके लिए भी वह 'भगवान' के मार्गदर्शन में सक्रिय साधना का शुभारंभ था।"

महर्षि के सान्निध्य में शांति अनुभव करने की बात बहुत-से भक्तों ने स्वीकार की है। एक अभ्यागत के यह पूछने पर कि अनेक आध्यात्मिक गुरु जब साधक से निष्ठा की मांग करते हों तो उनमें से उसे किसका अनुसरण करना चाहिये, महर्षि ने जो उत्तर दिया वह भी इसके अनुरूप है: "उस गुरु को चुनो जिससे तुम्हें शांति मिले।" महर्षि को तत्त्वराय की कथा बहुत प्रिय थी। उसने अपने गुरु की प्रशस्ति मे एक **भरणी** रची और विद्वानों को उसे सुनाने के लिए आमंत्रित किया। पंडितों ने आपत्ति की कि **भरणी** तो किसी ऐसे योद्धा की ही प्रशस्ति में गायी जा सकती है जो एक सहस्र हाथियों का दमन कर चुका हो, एक निरे साधु की प्रशस्ति में वह कदापि नहीं गायी जा सकती। इस पर कवि ने कहा, "आइए, हम सब गुरुजी के पास चलें और इस मामले को उनके सामने ही निपटायें।" वे लोग गुरुजी के पास गये और अभिवादन कर बैठ गये। कवि ने पंडितों की आपत्ति उन्हें बतायी। गुरुजी मौन बैठे रहे और अन्य सब भी मौन बैठे

रहे । इस तरह कई दिन बीत गये और इस बीच किसी के भी मन में कोई विचार नहीं उठा। इस लंबी मौन बैठक के बाद जब गुरुजी ने अपने मन को एक हलकी-सी गति दी तो सभी लोगों ने एक स्वर से घोषणा की : "एक सहस्र हाथियों का दमन हमारे अहं के मस्त हाथियों को दमित करने की इनकी शक्ति के आगे कुछ भी नहीं है।" और उन्होंने तत्त्वराय से प्रार्थना की, "आप अपनी भरणी का गायन आरंभ कीजिए।"

महर्षि की शिक्षा है कि 'सत्' एक है और नित्य है, और उसके अनुसार उनका भौतिक रूप से जीते रहना या मर जाना, यदि ठीक-ठीक कहा जाये तो महत्त्वपूर्ण नहीं था। परंतु अद्वैतवादियों में भी शायद ही कुछ ऐसे हों जो प्रेम और चाह के आकर्षण से मुक्त हों। भक्त यही चाहते थे कि वे सशरीर बने रहें और उनके लिए उपलब्ध रहें। इसलिए फरवरी 1949 में जब उन पर अंतिम बीमारी का आक्रमण हुआ तो सब बहुत चिंतित हो गये। उनकी बायीं कोहनी पर कैंसर हुआ और वह ऊपर को फैलने लगा। महर्षि चाहते थे कि प्रकृति को अपना कार्य करने दिया जाय, पर उन पर जोर डाला गया और कई ऑपरेशन किये गये। डॉक्टर जानते थे कि जो पीड़ा महर्षि को महीनों रही वह कितनी कष्टकर रही होगी और उन्हें तथा औरों को भी यह हैरानी थी कि ऐसी अनासक्ति से उसे कोई कैसे सहन कर सकता है। वे यह सोचकर भी हतबुद्धि थे कि ऐसा सत्पुरुष इस तरह का कष्ट आख़िर क्यों पा रहा है। कुछ का विचार था कि जो करुणा इतने सारे लोगों के पापों को अपने ऊपर लेती रही है, उसी का यह मूल्य चुकाना पड़ रहा है। पर यह कोई भी नहीं चाहता था कि अंत आ जाय और छुटकारा मिले। शरीर के इस अति कष्टकर क्षय द्वारा, जो बहुत दिनों तक चलता रहा, उन्होंने जुलाई, 1896 का नाटक सबके सामने फिर से खेला और अपने भक्तों को यह शिक्षा दी कि जिस तरह मेरा शरीर तुम्हारे साथ नश्वरता की सर्व-सामान्य नियति का भागी है, उसी तरह तुम्हारी चेतना भी मेरे

साथ परम सत्ता के आनंद की भागी हो सकती है। जो बेचारे वियोग के विचार से व्याकुल थे, महर्षि उनसे कहते : "मैं जा नहीं रहा। मैं जा कहां सकता हूं ? मैं यहीं हूं।" जन्म और मरण तो शरीर के लिए हैं। चेतनारूपी 'मैं', देश और काल जिसमें समाये हैं और जो साथ ही देशकालातीत है, वह न आता है, न जाता है, न मिलता है न बिछुड़ता है।

आखिर 14 अप्रैल, 1950 को अंत आ ही गया। फ्रांसीसी प्रेस-फोटोग्राफर, एम. कार्तिये ब्रास्सें ने, जो आश्रम के पास अपने कॉटेज के बाहर खड़े थे, देखा कि एक खूब चमकीला उल्का-तारा दक्षिण से आया और आकाश के आरपार धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढ़ता हुआ अरुणाचल की चोटी के पीछे गायब हो गया। उन्होंने अपनी घड़ी देखी; रात के 8.47 बजे थे। ठीक उसी क्षण महर्षि ने अपने प्राण त्यागे। चमकीले उल्का-तारे को आकाश में प्रकट होते पूरे दक्षिण भारत में बहुतों ने देखा था और सभी जगह समाचारपत्रों में उसकी खबर छपी थी। मद्रास और अन्य स्थानों पर कुछ भक्तों ने उसे देखते ही उसके संकेत का अनुमान लगा लिया और वे मोटर से तुरंत तिरुवण्णामलै चल पड़े, जिससे कि समाधि देने के समय तिरुवण्णामलै में उपस्थित रह सकें।

रमणाश्रमम् आनेवाले बहुत लोग उस स्थान पर, जहां श्री रमण इतने अरसे तक रहे और जहां उन्हे समाधि दी गयी, उनकी उपस्थिति के प्रभाव को अभी भी अनुभव करते हैं। चाड्विक इस बात का उल्लेख करते हुए कहते हैं : "निश्चय ही यह स्वाभाविक है। क्या संसार के सभी बड़े धर्मों में, बिना किसी अपवाद के, यह परंपरा नहीं है ? मुसलमान पीरों की कब्रों का आदर करते हैं, बौद्ध भगवान् बुद्ध के अवशेषों पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए लंबी-लंबी यात्राएं करते हैं। लोगों को यदि यह अकारण लगता तो वे यह सब खटराग कभी न करते।"

महर्षि की उपस्थिति के प्रभाव को बहुत-से ऐसे लोगों ने भी अनुभव

किया है जिन्होंने उन्हें उनके जीवन-काल में कभी नहीं देखा था और जो उनके नाम या उनके चित्रों से ही, जिनकी संख्या सैकड़ों में है, खिचकर आश्रम आये हैं। जैसा कि वे प्रायः कहा करते थे, सच्चा गुरु हर कहीं मौजूद है, क्योंकि वह चिद्रूप आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। और वे अपने बारे में इससे अधिक किसी विशेषता या अलौकिकता का दावा नहीं करते थे कि उनमें सत् की आनंदमयी चेतना है, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में है। कवि ने केवल मानव होने के जिस जादू की प्रशस्ति गायी है, वह 'स्वाभाविक जादू' उनमें पूर्णतया मूर्तिमान् था।

भिखारी को कभी यह नहीं लगा,
वह उस पर दया कर रहा है;
राजा को कभी यह नहीं लगा,
वह बड़प्पन का दिखावा कर रहा है।

वे हम सबसे अधिक मानव थे—अधिक पूर्ण और अधिक स्वाभाविक मानव, और उन्होंने यह दिखा दिया कि इस तरह का मानव होना ही वस्तुतः दिव्य होना है। आधी शताब्दी तक मनुष्यों के बीच एक मनुष्य की तरह और साथ ही सभी व्यक्तियों में विद्यमान परमपुरुष—'चेतना' की तरह, बिना 'अहं' के जीकर, महर्षि ने टैगोर के इस मत को सही सिद्ध कर दिया कि धर्म दिव्यता का अवतरण नहीं अपितु मानवता की पूर्णता है : "विज्ञान जिस प्रकार हमारे ज्ञान का सार्वभौमिक ज्ञान में—जो बृहत्तर मानवीय ज्ञान ही है—मुक्त हो जाना है, धर्म उसी प्रकार हमारे अपने व्यक्ति-मानव का सार्वभौमिक 'मानव' में—जो फिर भी मानव ही है—मुक्त हो जाना है।"

भाग 2—वचनामृत

8. संगृहीत रचनाएं : गद्य कृतियां

एक अमरीकी पत्रकार ने **सैटर्डे इवनिंग पोस्ट** में एक लंबा विवरण लिखा जिसका शीर्षक था, 'एक भगवान को मैंने मरते देखा'। "विह्वल उन्मत लोगों की खचाखच भीड़ और 'अरुणाचल शिव ! अरुणाचल शिव' ! का प्रचंड कर्णभेदी नाद," इन शब्दों में उस दृश्य का वर्णन करते हुए उसने बताया था कि किस तरह "जब वह उन्माद चरम सीमा पर पहुंच गया और उस छोटी-सी कोठरी में पंखा चलना बंद हो गया तो एक उल्का-तारा आकाश के आरपार स्वर्ण-रेखा खींचता हुआ गुजरा और अरुणाचल के ऊपर जाकर ठीक उसी क्षण बुझ गया जब भगवान श्री रमण महर्षि ने प्राण त्यागे।"

यह एक विचित्र संयोग था कि स्वयं द्युलोक ने उस व्यक्ति की मृत्यु की इस तरह घोषणा की जो चमत्कारों पर भौं चढ़ाता था; जो राजा और रंक के साथ एक-सा व्यवहार करता था और जो 1896 में अपने नव-जन्म से लेकर 1950 में इस लोक को छोड़ने तक, पूरे चौवन वर्ष, अद्वैत के इस सत्य की शिक्षा देता रहा कि पूर्ण समानता का उपभोग और प्रयोग ही चरमोन्नति है।

पर, फिर यह भी कहा जा सकता है कि यह सुप्रमाणित और बहुप्रचारित घटना उन अनेक 'संयोगों' में से मात्र अंतिम और सबसे अद्भुत थी जो महर्षि की जीवन-गाथा का अंग हैं। महर्षि गांधी और कृष्णमूर्ति के समकालीन थे और उनका आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब वर्तमान

भारतीय पुनर्जागरण अपने चरमोत्कर्ष पर था और भारतीय जनता, काफी विलंब के बाद, क्रांति के पथ पर अग्रसर हो रही थी तथा पश्चिम में जेन-अद्वैत का प्रसार हो रहा था। क्रिसमस के दिनों में जन्म और ईस्टर के दिनों में मृत्यु पाने से वे अनेक एसे धर्मपरायण लोगों के प्रिय हो गये जो, **सेंट जॉन**, अध्याय-14 के वायदे के अनुसार, अपने भीतर ही शांतिदाता की, सत्य के देवदूत की प्रत्याशा करते हैं। उनकी अपनी माता आश्रम की माता बन गयी और उसकी समाधि पर बने मंदिर में मातृभूतेश्वर की प्रतिष्ठा हुई। उसका नाम, अलगु, शुद्ध तमिल था, जबकि महर्षि के पिता का नाम, सुंदरम्, और उनका अपना, रमण, दोनों सस्कृत शब्द थे, और ये तीनों ही सौंदर्यवाची है। पुनर्वसु नक्षत्र मे, जो श्री राम का नक्षत्र था, और आर्द्रा की रात को, जो शिवभक्तों के लिए बड़ी पावन है, उनका जन्म हुआ। कवियों ने उनकी स्कंद के रूप में स्तुति की जो यौवन और भविष्य के देवता हैं। इस प्रकार वे सभी हिंदू संप्रदायों और परपराओं के लिए एक-जैसे मान्य हो गये। 1947 में जब भारत की स्वतंत्रता की घोषणा हुई और वह दिन आया तो **श्री रमण गीता** के अध्येताओं को यह बात याद आयी कि महर्षि ने उसके दसवे अध्याय में **संघ विद्या** का प्रतिपादन 1917 में 15 अगस्त को ही किया था। उसमें उन्होंने बताया था कि व्यक्तियों में बंधुत्व की भावना पैदा करने के लिए शांति और मन की निर्मलता आवश्यक है, समाज की प्रगति के लिए शक्ति आवश्यक है, और समूचे मानव परिवार में तालमेल रखने के लिए समानता आवश्यक है। परंतु सबसे भाग्यशाली घटना तो यह रही कि यह सीधा-सादा विनम्र आदमी, अनजाने ही, गुरु बन गया। आग्रही साधकों ने उनसे अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये, ग्रंथों के सार-संक्षेप और कविताओं के अनुवाद करवाये और बड़े जतन से उन सबको सुरक्षित रखा। इस प्रकार **कलेक्टिड वर्क्स ऑव रमण महर्षि** (रमण महर्षि की संगृहीत रचनाएं) के रूप में हमें अध्यात्म पर एक संक्षिप्त किंतु

सर्वांग संहिता उपलब्ध है, जिसमें वेदांत दर्शन की सैद्धांतिक शिक्षा को 'विचार' की साधना-पद्धति से जोड़ दिया गया है। यह पद्धति उन्होंने खुद आजमायी थी और बड़ी सफल पायी थी और आम उपयोग के लिए इसे और भी परिष्कृत और परिपूर्ण किया था।

सबसे पहले जिस साधक ने छोटे-छोटे पर्चों पर तरुण स्वामी से प्रश्नों के उत्तर प्राप्त किये और उन्हें संजोकर रखा, वह गंभीरम् शेषय्या था जो 1900-02 के दौरान विरूपाक्ष गुफा में प्रायः आया करता था। वह श्रद्धालु रामभक्त था और योग, विवेकानंद के भाषणों और **रामगीता** का (जिसमें राम ने लक्ष्मण को अद्वैत का सार समझाया है) अध्ययन कर चुका था। परंतु उसे उन सब विचारों को समझाने और उनमें तालमेल बैठाने में कठिनाई होती थी। स्वामी ने उसकी खातिर वे पुस्तकें पढ़ीं, विचारों का सार निकाला और उन्हें व्यवस्थित रूप में रखा और फिर जो नये प्रश्न उठे उनके उत्तर दिये। ये टिप्पणियां **सेल्फ इन्क्वायरी** (आत्म-विचार) नामक रचना का आधार बनीं, जिसमें अधिकतर ध्यान और प्राणायाम का विवेचन है। शेषय्या की इन विषयों में रुचि थी और वह इनसे परिचित था। जो मार्ग साधक ने चुना था उस पर आगे बढ़ने में उसकी सहायता करते हुए, महर्षि 'आत्म-विचार' की अपनी विशिष्ट पद्धति रखते हैं और उसे कुछ विस्तार से समझाते हैं। वे कहते हैं, अक्षय आनंद की स्थिति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को 'मैं कौन हूं ?' इसकी खोज करते हुए अपने वास्तविक स्वरूप की छानबीन करनी चाहिए और उसे समझना चाहिए।

> 'जाना' और 'आना' जैसे कर्म केवल शरीर के हैं। इसलिए, जब कोई कहता है "मैं गया, मैं आया", तो इसका अर्थ यह कहना हुआ कि शरीर 'मैं' है। पर क्या शरीर को 'मैं' चेतना कहा जा सकता है ? शरीर पैदा होने से पहले था नहीं, यह पंच तत्त्वों का बना है, गहरी निद्रा की स्थिति

में यह अस्तित्वहीन हो जाता है और मर जाने पर लाश। क्या इस शरीर को, जो लकड़ी के कुंदे की तरह जड़ है, 'मैं' 'मैं' के रूप में दीप्त होनेवाला कहा जा सकता है ? लाश बननेवाले इस शरीर को लाश की तरह पड़ा रहने दो, और चुपचाप, 'मैं' शब्द तक न बोलते हुए, गहराई से यह छानबीन करो : "अच्छा, तो यह 'मैं' के रूप में उभरनेवाली चीज़ क्या है ?" तब 'हृदय' में 'मैं' 'मैं' के रूप में एक तरह का निःशब्द आलोक चमकेगा। अर्थात, सीमित और अनेकानेक विचार लुप्त हो जायेंगे और शुद्ध चैतन्य, जो असीम और एक है, अपने-आप चमकेगा। यदि मनुष्य उस (अनुभूति) को त्यागे नहीं और उसमें निश्चल रहे, तो 'मैं' शरीर हूं यह अहंभाव, वैयक्तिक बोध, पूर्णतया मिट जायेगा, और अंत में 'मैं' के रूप में अंतिम विचार भी, कपूर को जलानेवाली आग की तरह, बुझ जायेगा। महर्षियों और धर्मग्रंथों का कहना है कि केवल यही मुक्ति है।

'सोऽहं' के ध्यान की, जो मन को अंतर्मुख और 'हृदय' में लीन करने का एक तरीका है, चर्चा करते हुए महर्षि समझाते हैं :

जब मनुष्य 'मैं कौन हूं ?' यह खोज करता है और खोज की उस स्थिति में ही निश्चल रहता है, तो आत्म-स्वरूप सूक्ष्म ढंग से 'मैं' 'मैं' के रूप में प्रकट होता है।

यह बात ज़ोर देकर कही गयी है कि ध्यान की चरमावस्था यह रूप ले लेती है कि 'मैं केवल शुद्ध चेतना हूं।' आगे यह भी समझाया गया है कि जब मनुष्य शरीर को अलग कर देता है और 'मैं कौन हूं ?' की खोज करता है, तो वह आत्मा के रूप में दीप्त होने वाले 'मैं' के रूप में टिकता है। योग जहां क्रुद्ध सांड को बल-प्रयोग से काबू में लाने की कोशिश करता है, वहां

यह 'ज्ञान विचार' उसे हरी घास से फुसलाकर काबू में लाता है। इसीलिए मनीषी इसे 'सबसे छोटा और सर्वोत्तम मार्ग' कहते हैं।

एक और उत्साही साधक जिसने अपने प्रश्नों और महर्षि द्वारा दिये गये उनके उत्तरों का लेखा-जोखा रखा, राजस्व-अधिकारी शिवप्रकाशम् पिल्लै थे जो दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर चुके थे। **हू एम आई** ? (मैं कौन हूं ?) शीर्षक से उन्हें पुस्तक-रूप में प्रकाशित करने के लिए उन्होंने उन्हें नये सिरे से व्यवस्थित किया। यह संक्षिप्त रचना अब एक प्रश्नोत्तरी के रूप में भी उपलब्ध है। यहां हम उसके कुछ अंश उद्धृत करते हैं, जो महर्षि की मुख्य शिक्षा और 'आत्म-विचार' की उनकी साधना-पद्धति को स्पष्ट रूप से समझाते हैं।

> शरीर, पांच ज्ञानेंद्रियों, पांच कर्मेंद्रियों, प्राण, मन और निद्रा की जड़ता को एक-एक कर अस्वीकार करते हुए कि 'मैं यह नहीं हूं' 'मैं यह नहीं हूं'[1] जो एक मात्र चेतना रह जाती है, वह मैं हूं और उसका स्वरूप है, आनंद।
>
> विचारों से अलग कोई मन नहीं है। इसलिए विचार ही मन का उपादान है। हमारी धारणाओं से अलग, जगत नाम की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। जागृत अवस्था में और स्वप्नावस्था में विचार होते हैं और एक जगत भी होता है। जिस तरह मकड़ी (अपने जाले के) तार को अपने में से ही फेंकती है और फिर अपने में ही समेट लेती है, उसी तरह मन जगत को अपने में से ही फेंकता है और फिर अपने में ही घोल लेता है। मन जब आत्मा से बाहर आता है, तो जगत प्रतीत होता है। यदि कोई लगातार मन के स्वरूप की खोज करता रहे, तो मन समाप्त हो जायेगा, और आत्मा ही शेष रहेगा। किसी स्थूल चीज का

---

[1]नेति-नेति

सहारा लिये बिना मन कभी रह ही नहीं सकता, वह अकेला नहीं रह सकता। मन को ही सूक्ष्म शरीर या 'जीव' कहा गया है।

मन में जितने भी विचार उठते हैं, उनमें सबसे पहला विचार है, 'मैं'। इसके उठने के बाद ही अन्य विचार उठते हैं। उत्तम पुरुष सर्वनाम के प्रकट होने के बाद ही मध्यम पुरुष और अन्य पुरुष सर्वनाम प्रकट होते हैं। उत्तम पुरुष सर्वनाम के बिना मध्यम और अन्य पुरुष सर्वनाम होंगे ही नहीं।

मन को निश्चल करने का उपाय 'मैं कौन हूं ?' की खोज है। 'मैं कौन हूं ?' यह विचार अन्य सब विचारों को नष्ट कर देगा, और, चिता को चेतानेवाली लकड़ी की तरह, अंत में स्वयं भी नष्ट हो जायेगा। तब आत्माज्ञान जागेगा।

जब अन्य विचार मन मे उठें, तो मनुष्य को उनके पीछे बहना नहीं चाहिए, बल्कि छानबीन करनी चाहिए कि 'ये (विचार) किसके है ?'। इसमे कोई फर्क नहीं पड़ता कि कितने विचार मन मे उठते है। हर विचार के उठने पर पूरी कोशिश से यही छानबीन करनी चाहिए कि 'यह विचार किसका है ?' उत्तर होगा, 'मेरा'। उस पर यदि कोई छान-बीन करे कि 'मैं कौन हूं ?' तो मन अपने मूल स्रोत पर वापस आ जायेगा, और विचार लुप्त हो जायेगा। इस तरह बार-बार के अभ्यास से मन अपने मूल स्रोत मे ही रहना सीख लेगा। मन, जो सूक्ष्म है, जब बुद्धि और इंद्रियों के रास्ते बाहर जाता है, तो स्थूल नाम और रूप प्रकट होते है। जब वह 'हृदय' में रहता है, तो नाम और रूप लुप्त हो जाते है। मन को बाहर न जाने देना अपितु 'हृदय' में ही रखना, 'अन्तर्मुख' होना कहलाता है। मन को 'हृदय' से बाहर जाने देना, 'बहिर्मुख' होना कहलाता है। इस तरह, जब मन 'हृदय' में रहेगा, तो सभी विचारों का मूल विचार 'मैं' समाप्त हो जायेगा और सदा रहनेवाली आत्मा दीप्त

होगी। मनुष्य जो कुछ भी करे, 'मैं' के अहंभाव के बिना करना चाहिए। इस तरह करने से सब कुछ शिव-स्वरूप प्रतीत होगा।

इस छानबीन या 'विचार' के अतिरिक्त मन को निश्चल करने का कोई और उपयुक्त उपाय नहीं है। प्राणायाम का अभ्यास, भगवान के रूपों का ध्यान, मंत्र-जाप व्रत आदि मात्र सहायक हैं। ध्यान और जप मन को एकाग्र करते हैं, नाम या रूप उसे व्यस्त और निश्चल रखते हैं, जैसे कि हाथी की सूंड से बंधी जंजीर उसे किसी और चीज को पकड़ने से रोकती है। इस तरह के एकाग्र और दृढ़ मन के लिए 'आत्म-विचार' आसान हो जाता है। इसी प्रकार परिमित सात्त्विक आहार भी 'आत्मा-विचार' के अभ्यास में सहायक होता है।

दीर्घ काल से चली आ रही वासनाएं क्या मिट सकती हैं और क्या मनुष्य शुद्ध आत्मा के रूप में रह सकता है, इस प्रश्न का उत्तर है :

'यह संभव है या नहीं ?' इस संशय में पड़े बिना, साधक को आत्मा के ध्यान में बराबर लगे रहना चाहिए। कोई बड़ा पापी हो तो भी उसे चिंता नहीं करनी चाहिए और न यह सोच-सोचकर रोना चाहिए कि 'हाय' मैं तो पापी हूं, मेरा उद्धार कैसे होगा ?' आत्मा के ध्यान में अपने को बिलकुल डुबो देना चाहिए, तब निश्चत ही सफलता मिलेगी। मन को लौकिक पदार्थों में और ऐसी बातों में जिसका संबंध दूसरों से है, भटकने नहीं देना चाहिए। मनुष्य को दूसरों से, चाहे वे कितने भी बुरे क्यों न हों, घृणा नहीं करनी चाहिए। कामना और घृणा, दोनों से बचना चाहिए। मनुष्य जो कुछ दूसरों को देता है वह सब अपने को ही देता है। यह सत्य यदि समझ में आ जाय तो क्या कोई औरों को कोई भी चीज देने से इनकार करेगा ? हमारा व्यवहार जितना विनम्र होगा, उतना ही अच्छा परिणाम निकलेगा।

जब तक मन में वासनाएं हैं, 'मैं कौन हूं ?' यह छानबीन जरूरी है। विचार जैसे ही मन में उठें, उन्हें इस छानबीन द्वारा तत्काल वहीं उनके मूल स्रोत पर ही नष्ट कर देना चाहिए। जब तक शत्रु किले के भीतर हैं, वे आक्रमण करते ही रहेंगे। यदि उन्हें सिर उठाते ही नष्ट कर दिया जाय, तो किला हमारे हाथ में आ जायेगा।

विचारों को, जैसे ही वे उठें, उनके मूल स्रोत पर ही नष्ट कर देना, अनासक्ति है। जिस प्रकार गोताखोर अपनी कमर में पत्थर बांधकर समुद्र की तह में उतरता है और वहां से मोती ले लेता है, उसी प्रकार हमें कड़ी अनासक्ति के साथ भीतर गोता लगाना चाहिए और आत्मा का मोती ले लेना चाहिए।

मन को निश्चल करना है, यह बात यदि एक बार समझ में आ जाय, तो फिर अनंत अध्ययन की कोई जरूरत नहीं रहती। आत्मा अपने भीतर है, पुस्तकों में नहीं हैं। 'आत्मा-विचार' के लिए खोज भीतर करनी है। आत्मा को अपने प्रज्ञा के नेत्र से जानना चाहिए। वस्तुतः, एक समय ऐसा आयेगा जब जो कुछ सीखा है वह सब भूलना होगा।

आनंद आत्मा का स्वरूप ही है; आनंद और आत्मा एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। संसार के किसी भी पदार्थ में आनंद नहीं है। मन जब बाहर जाता है तो दुख अनुभव करता है। वस्तुतः, जब उसकी इच्छाएं पूरी हो जाती हैं तो वह अपने स्थान पर वापस आ जाता है, और आनंद का, आत्मा का उपभोग करता है। इसी तरह निद्रा, समाधि और मूर्छा की स्थितियों में, और जब वांछित वस्तु मिल जाती है या अप्रिय वस्तु दूर हो जाती है तब मन अंतर्मुख हो जाता है और शुद्ध आत्मानंद का उपयोग करता है। इस तरह मन, बिना विश्राम लिये, बराबर यही करता रहता है; वह आत्मा से बाहर जाता है और फिर

उसमें लौट आता है। पेड़ के नीचे सुखद छाया है, खुले में झुलसाती गर्मी और धूप। मूर्ख आदमी छाया से धूप में और धूप से छाया में आता-जाता रहता है। बुद्धिमान बराबर छाया में ही रहता है। सत्य को जो जानता है उसका मन ब्रह्म को छोड़ता नहीं है। वास्तव में, जो जगत कहलाता है, वह केवल विचार है। जगत जब लुप्त हो जाता है, अर्थात् जब कोई विचार नहीं रहता, तो मन आनंद अनुभव करता है और जब जगत प्रकट होता है तो वह दुख अनुभव करता है।

उपदेश मंजरी में, जो आध्यात्मिक शिक्षा' भी कहलाती है, नटेश मुदलियार के प्रश्नों पर महर्षि के उत्तर हैं, श्री मुदलियार स्कूल अध्यापक थे और वेदांत तथा शैवसिद्धांत में निष्णात थे। नटनानंद नाम रखकर वे महर्षि के आजीवन भक्त बन गये। उन्होंने मुरुगनार पर एक कविता-संग्रह (1953) में और महर्षि के जीवन और उपदेशों पर **रमण दर्शन** (1957) नामक एक निबंध-संग्रह भी निकाला।

उपदेश मंजरी में चार अध्याय हैं : शिक्षा, अभ्यास, नैमित्तिक अनुभूति और स्थायी उपलब्धि। यद्यपि यह मुख्यतया "ऐसे साधकों के लिए है जो इस मार्ग पर थोड़ा-बहुत चल चुके हैं;" पर इसमें विषय का प्रतिपादन इतना यथातथ्य और विशद है कि यह सभी जिज्ञासुओं के लिए सहायक हो सकती है, जैसा कि निम्नलिखित प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट हो जाता है।

भक्ति और शैवसिद्धांत मार्ग का लक्ष्य क्या है?

इस सत्य को हृदयंगम करना कि यदि कोई अपने सब कार्य निःस्वार्थ निष्ठा से, शरीर, वाणी और मन की शुद्धता से और अपने को ईश्वर का सेवक मान कर करता है, तो वे कार्य ईश्वर के ही हो जाते हैं तथा 'मैं' और 'मेरे' की भावना से मुक्त रहना। शैवसिद्धांतवादी जिसे परा

भक्ति या ईश्वर-सेवा में जीना कहते हैं उसकी सचाई भी यही है।

ज्ञान और वेदांत का लक्ष्य क्या है ?

'मैं' ईश्वर से भिन्न नहीं है, इस सत्य को जानना और कर्ता होने के अहंकार से मुक्त होना।

भक्ति और ज्ञान का लक्ष्य एक कैसे है ?

साधन चाहे कुछ भी हो, लक्ष्य तो 'मैं' और 'मेरे' की भावना को नष्ट करना ही है। ये एक-दूसरे पर निर्भर है, एक के नाश से दूसरे का भी नाश होता है। मौन की उस स्थिति में पहुंचने के लिए, जो विचार और शब्द से परे है, साधक ज्ञान के मार्ग का अनुसरण कर सकता है जिससे 'मैं' की भावना मिट जाती है, या भक्ति के मार्ग का अनुसरण कर सकता है जिससे 'मेरे' की भावना मिट जाती है।

अहं क्या है ?

'मैं' के रूप में जीवात्मा अहं है। चित्-स्वरूप आत्मा में 'मैं' की भावना नहीं होती। जड़ शरीर में भी 'मैं' की भावना नहीं होती। चेतन और जड़ अस्तित्व के बीच भ्रामक अहं का रहस्यमय आविर्भाव ही इन सब क्लेशों का मूल कारण है। किसी भी उपाय से जब यह नष्ट हो जाता है, तो जिसका वास्तव में अस्तित्व है वह उसी रूप में दिखाई देता है। इसी को मोक्ष कहते हैं।

'निश्चल होना' क्या निष्क्रिय स्थिति है ?

यह निठल्लेपन की निष्क्रिय स्थिति नहीं है। सभी सांसारिक क्रियाएं, जो साधारणत: प्रयत्न कहलाती हैं, मन के एक अंश की सहायता से

की जाती हैं और बीच-बीच में व्यवधान रहता है। परंतु आत्मा के साथ संपर्क (आत्म-व्यवहार) या अंतर्मुख होकर निश्चल रहना, तीव्र क्रिया है जो संपूर्ण मद से और बिना व्यवधान के की जाती है।

साधक के लिए आचरण के नियम क्या हैं ?

आहार में संयम, निद्रा में संयम और वाणी पर संयम।

कार्य-कलाप के बीच मन की शांति कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

कर्म और ज्ञान एक-दूसरे के बाधक नही हैं। बुद्धिमान आदमी की क्रियाओं का अस्तित्व केवल दूसरों की दृष्टि में ही होता है, उसकी अपनी दृष्टि में नहीं होता। बहुत सारे काम करता हुआ भी, वस्तुतः वह कुछ नहीं करता। इसलिए उसकी क्रियाएं निष्कर्मता और मन की शांति में बाधा नहीं बनतीं। वह यह जानता है कि वह कर्ता नहीं है। सभी क्रियाओं का, जो हो रही हैं, वह केवल मूक द्रष्टा रहता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है ?

ब्रह्म की खोज को ही ब्रह्मचर्य कहना चाहिए।

शरीर के रहते क्या कर्म को जीता जा सकता है ?

अहं ही कर्ता है। शरीर और आत्मा के बीच अस्तित्व में आनेवाला अहं यदि लुप्त हो जाय, तो कर्म क्या बचेगा ? जब 'मैं' नहीं होगा, तो कर्म भी नहीं होगा।

सिद्धियों और मुक्ति में क्या कोई संबंध है ?

प्रबुद्ध 'आत्म-विचार' ही केवल मुक्ति तक ले जाता है। सिद्धियां

सभी माया की शक्ति से पैदा होने वाले भ्रामक आभास हैं। आत्मोपलब्धि ही, जो स्थायी है, एक मात्र सच्ची सिद्धि है। प्रकट होने वाली और लुप्त होनेवाली सिद्धियां, माया का प्रभाव होने के कारण सच्ची नहीं हो सकतीं। वे यश, सुख, आदि के उद्देश्य से सिद्ध की जाती हैं। कुछ व्यक्तियों को, उनके कर्म द्वारा, वे अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। यह समझ लीजिए की सभी सिद्धियों का वास्तविक उद्देश्य ब्रह्म के साथ एक होना है। यही मुक्ति की स्थिति है।

अनुभूति के बल पर कोई यह कैसे निश्चय कर सकता है कि वस्तुतः न बंधन है न मुक्ति ?

'बंधन', और 'मुक्ति' मात्र शब्द हैं। उनमें कोई वास्तविकता नहीं है। यदि कोई खोज करे कि 'बंधन और मुक्ति किसके लिए है ?' तो पता चलेगा, 'ये मेरे लिए हैं।' यदि कोई खोज करे कि 'मैं कौन हूं ?' तो वह देखेगा कि 'मैं' जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। तब यह बात हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जायेगी कि जो-कुछ बचा रहता है वही उसकी वास्तविक सत्ता है। जो साधक मात्र शाब्दिक विवेचन छोड़ देंगे और अंतर्मुख होकर अपने भीतर खोज करेंगे, उन्हें इस सत्य की स्वाभाविक रूप से स्पष्ट अनुभूति होगी। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी आत्मज्ञानी समान रूप से वास्तविक आत्मा के लिए न बंधन देखते हैं न मुक्ति।

क्या हर कोई अपने सच्चे स्वरूप को जान सकता है ?

अपने सच्चे स्वरूप को ठीक-ठीक और असंदिग्ध रूप से जानना हर किसी के लिए संभव है। हर कोई यह अनुभव करता है कि गहरी निद्रा और मूर्छा की स्थितियों तक में, जब सारा चल और अचल संसार लुप्त

हो जाता है, वह स्वयं लुप्त नहीं होता। इसलिए शुद्ध सत्ता (सत्) की स्थिति ही, जो सभी में विद्यमान है और जिसे हर कोई प्रत्यक्ष अनुभव करता है, व्यक्ति का सच्चा स्वरूप है। ज्ञानावस्था और अज्ञानावस्था के सारे अनुभव, जिनका वर्णन नये-नये शब्दों में हो सकता है, व्यक्ति के सच्चे स्वरूप के विरुद्ध हैं।

9. संगृहीत रचनाएं : भक्ति-रस की कविताएं

विरूपाक्ष गुफा में निवास के अंतिम दिनों में (1914 के आसपास) महर्षि ने श्री अरुणाचल पर जो पांच कविताएं रची, वे रहस्यवाद के अध्येताओं के लिए विशेष आकर्षण रखती हैं। उनमें आत्मकथा, पौराणिक प्रतीकात्मकता, भावविह्वल भक्ति और तत्त्वज्ञान का विविध अनुपातों में मिश्रण है। तमिल विद्वानों के लिए उनमें एक और भी आकर्षण है : वे महर्षि की अनुपम कवित्व-शक्ति और भाषा तथा उसके छंदशास्त्र पर उनके पूर्ण अधिकार की उदाहरण हैं।

पहली है, **अक्षर मण मालै** (अक्षर वरमाला)। इसके पद एक ही गिरि-परिक्रमा में रचे व एक माला में गूंथे गये थे। कुछ भक्त साधुओं ने उनसे यह प्रार्थना की कि नगर में रोज़ भिक्षा के लिए फेरी लगाते हुए गाने के लिए उन्हें एक बिलकुल नया गीत चाहिए। इसकी रचना उन्हीं के लिए हुई। इसके 108 छोटे-छोटे पद तमिल के अत्यंत मार्मिक धार्मिक गीतों में गिने जाते हैं। ये काफी लोकप्रिय हैं, क्योंकि जागृत जीवात्मा और परमात्मा के बीच चलनेवाले अनंत संवाद को ये विशद, मनोरम, ओजस्वी और भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं। बहुत-से पदों में शृंगारिक प्रतीक हैं, क्योंकि वे प्रेमाकुल वधू की 'स्वामी' से मिलन की उत्कंठा को व्यक्त करते हैं। इसीलिए उनका शीर्षक 'वरमाला' रखा गया है परंतु बिंब योजना, ऐंद्रिक और हृदयग्राही होते हुए भी, व्यापक और उन्मुक्त है। पर्वत को परमात्मा मानकर, उसकी माता-पिता, गुरु, सूर्य, चंद्रमा, सागर, रमण

आदि विविध रूपों में भी उपयुक्त ढंग से स्तुति की गयी है। बदलते हुए इन रूपों से यह समझा जा सकता है कि यहां भावना वैयक्तिक या आत्म-कथात्मक नहीं है, अपितु सभी जीवात्माओं के आत्मा से पुर्नमिलन की तीव्र उत्कंठा की ही इनमें प्रतिनिधि रूप से अभिव्यक्ति हुई है। अन्य भारतीय विचारकों की तरह, महर्षि भी ज्ञान और भक्ति में कोई विरोध नहीं देखते थे। ज्ञान अद्वैत की अवर्णनीय अनुभूति है, और भक्ति उस अनुभूति की ओर बढ़ना तथा उसकी स्मृति दोनों है। मुरुगनार की सूक्ष्मग्राही टीका इस कविता के साहित्यिक सौंदर्य और आध्यात्मिक तत्त्वार्थ को साधारण पाठक के लिए सुस्पष्ट कर देती है। 'अरुणाचल-शिव' की टेक शुद्ध इंद्रियातीत चेतनारूपी सत् के रूप, पर्वत और उसके नाम, शिव की एकता को बराबर स्मरण कराती रहती है।

इस माला के कुछ पुष्प यहां प्रस्तुत हैं :

2. जैसे सुंदर और अलगु,
वैसे ही तुम और मैं
एक हो जायें
अभिन्न हो जायें,
अरुणाचल !

9. मुझे अब (हरण करके भी)
यदि गले नहीं लगाओगे
तो क्या यह तुम्हारा पौरुष होगा,
अरुणाचल ?

13. ॐ की गरिमा है
अप्रतिम अलंघ्य,
तुम्हें वस्तुतः कौन जान सकता है,
अरुणाचल ?

27. सूर्य, तुम्हारी उज्ज्वल किरणें
सारे जग को निगल लेतीं,
मम हृदय-कमल अपनी कृपा से
उत्फुल्ल करो, अरुणाचल ?

28. आया तो था तुम्हें आहार बनाने,
खुद ही तुम्हारा लो आहार बन गया,
बस अब मैं शांत रहूंगा,
अरुणाचल !

30. पहले मुझे नंगा कर दो,
और फिर अपनी कृपा की
भव्य भूषा से सजा दो,
अरुणाचल !

39. मैं क्या कुत्ते से गया-बीता हूं ?
निरंतर खोज से ('मैं' की गंध से)
करता तलाश
तुम तक पहुंच ही जाऊंगा,
अरुणाचल !

55. तुम्हारी आग मुझे जलाकर राख कर दे,
इससे पहले अपनी कृपा की बौछार करो,
अरुणाचल !

61. सड़ा-गला फल है बेकार,
पके को ही चखना और खाना
अच्छा है, अरुणाचल !

83. निर्धन दीन से जुड़कर भी तुमने
इतनी महानता कैसे प्राप्त कर ली,

अरुणाचल ?

91\. हृदय के विराट शून्य में,
न रात है न दिन,
यहां आओ, हम आनंद करें,
अरुणाचल !

101\. बर्फ जैसे घुलती है पानी में,
वैस ही मुझे अपने में
प्रेम-सा घुलने दो,
प्रेमरूप अरुणाचल !

108\. प्रिय अरुणाचल, मुझे अपनी माला दो
और मेरी यह माला स्वीकार करो,
धारण करो, अरुणाचल !

नव मणि माले (नव रत्नमाला) में प्रत्येक पद अलग छंद है। इस तरह यह सारी रचना बड़े कौशल का कार्य है। प्रतीकात्मकता और तत्त्वज्ञान इसमें किस तरह गहरे गुंथे हैं, यह दिखाने के लिए हम यहां इसके पहले दो 'रत्न' प्रस्तुत कर रहे हैं :

1\. नित्य अचल वह, किंतु
(तिलै) मंदिर के मंडप में
अचल मां के सम्मुख
आनंद-नृत्य करता।
उसी शक्ति को अब
अपने भीतर समेटे वह
अडिग भव्य शांत
अरुणाचल में उभरा।

2. अ, र और ण

सत्, चित्, आनंद के ही नहीं
आत्मा, जीव और उनके ऐक्य के भी
हैं द्योतक
अतः अरुण का अर्थ है,

तत्त्वमसि ।[1]

अचल है, अटल परिपूर्णता ।
स्वर्णाभ सुंदर अरुणाचल से
मांगो सहायता,
उसी का ध्यान मुक्ति दिलाता ।

पदिकम् (एकादशपदी) और अष्टकम् (अष्टपदी) ही महर्षि की ऐसी काव्य-कृतियां हैं जो "स्वतः स्फूर्त हैं और जिन्हें उहोंने किसी के आग्रह पर नहीं बल्कि अंदर से मानो बाध्य होकर रचा था।" ये मनः-स्थिति और विषय वस्तु में एक-दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि यह मानना कठिन लगता है कि ये एक ही व्यक्ति द्वारा रची गयी हैं या एक के पूर्ण होने के बाद अगले ही दिन दूसरी की रचना हुई है। फिर भी सचाई यही है ? पदिकम् भक्तों के दृष्टिकोण से और उन्हीं के लिए रची गयी है। इसमें तीव्र उत्कंठा की विरामहीन पुकार है, द्वैत की आनंदानुभूति है और अशा-निराशा के बदलते रंगों के अनुरूप लय का उतार-चढ़ाव है। इसका गायक जाल में फंसा मृग है, मूक और अवाक् प्रतिमा है, कमल-नाल से चिपटा मेंढक है, ऐसी मधुमक्खी है जो धूप में खिले फूल का अभी तक मधुपान नहीं कर पायी है दूसरी ओर, अष्टकम् एक

[1]वह तुम हो ।

ऋषि की आप्त और प्रामाणिक वाणी है, जो अपने ही अनुभव को तीखे और स्पष्ट बिंबों में व्यक्त करता है। पविक्रम् भावावेश से पूर्ण और मानवीय क्रंदन और उच्छ्वासों से ओतप्रोत है। उधर, अष्टकम् में विचारों का यथातथ्य और सशक्त प्रतिपादन है, और वह ऐसे गुरु द्वारा है जो व्यक्तित्व की सीमा को पार कर चुका है। निम्नलिखित पद इसके उदाहरण हैं :

सत् हो तुम चित् हो तुम,
अतः अपनी ओर न देख
ईश्वर को खोजना,
दीपक लेकर अंधकार को है ढूंढना।
सत्-चित् में अंत में
खुद को व्यक्त करने को ही
सभी धर्मों में
विभिन्न रूपों में रहते तुम।

सत्-चित् के रूप में
तुम्हें जो अभागे
कभी देख नहीं पाते,
वे हैं सूर्य से अनभिज्ञ
निपट अंधों-जैसे।

सूर्य का प्रकाश पड़ जाने पर भी
क्या फोटो-प्लेट पर
कोई छाप पड़ेगी ?
हे ज्योतिर्मय दयामय अरुणाचल,

क्या तुम्हारे सिवा
सत् है कोई और भी ?···

मेघों से झरती बरखा की बूंदें
सागर से उठतीं
और लाख हों बाधाएं,
जब तक वे पुन: सागर के अपने
घर में नहीं पहुंचतीं
चैन नहीं पातीं ।

तुमसे नि:सृत सदेह जीव
खुद ही चुनी विभिन्न राहों पर
निरुद्देश्य कुछ काल है भटकता,
पर तुममें, अपने स्रोत में जब तक
फिर मिल नहीं जाता
कहीं चैन नहीं पाता ।

पक्षी जहां-तहां कितना ही मंडराये
अम्बर में लेकिन टिक नहीं सकता,
बसेरे के लिए तो अंतत: उसे
उसी राह होगा लौटना,
धरती पर ही होगा आना ।

ऐसे ही जीव को भी, अरुणाचल
आखिर तुम्हारे ही पास है आना
आनंद के सागर आखिर तो उसे
तुम्हीं में है समाना ।

पांचवीं और सर्वोच्च काव्य-कृति **अरुणाचल पंचरत्नम्** है। यह मूलत: 1917 में संस्कृत में रचा गया था। 1922 में, एक तमिल भक्त की प्रार्थना पर, महर्षि ने स्वयं इसे तमिल छंदों में रूपांतरित किया। 1917 में एक दिन प्रात: काव्यकंठ गणपति शास्त्री ने महर्षि से प्रार्थना की कि वे अपना हाथ संस्कृत काव्य-रचना पर आजमायें और उसके लिए उन्होंने 'आर्या छंद सुझाया, जो काफ़ी कठिन माना जाता है। उस छंद की रचना भी उन्होंने महर्षि को समझा दी। कुछ देर बाद ही महर्षि ने शुद्ध संस्कृत में पांच सारगर्भित श्लोक रचकर उस महापंडित को चमत्कृत कर दिया।

हे सुधानिधि, करुणानिधि,
हे अरुणाचल, परमात्मन्,
सब कुछ निमग्न है
किरण-जाक में तुम्हारे,
तुम अरुणोदय से चमको
और हृदय-कमल खिलाओ।

जैसे पर्दे पर चित्र कोई हो चलता
तुम पर वैसे ही, अरुणाचल, जग सारा
बनता, रहता और फिर है मिट जाता,
तुम रूप धरे हो 'मैं' का और हृदय में
अविराम नाचते, तभी 'हृदय' कहलाते।

कहां से उठता है यह 'मैं'
खोजता है जब कोई निरंतर
निर्मल मन से अपने अंदर,
जान ही लेता है तब वह

अपना शुद्ध वास्तविक रूप,
नदी ज्यों सागर में, तुममें
लीन हो जाता वह, अरुणाचल।

बाह्य विषयों को सबको त्याग,
श्वास मन को संयम से साध,
हृदय में जो योगी दिन-रात
तुम्हारा ही करता है ध्यान,
उसे तुममें, महान् अरुणाचल
मिलती है आलोक-किरण।

समर्पित कर देता जो मन,
निहारता है सदैव बस तुम्हें,
सभीको मान तुम्हारा रूप
सभीको करता जो सेवा,
आत्म-सम सबसे जिसको प्रेम,
वही विजयी है, अरुणाचल,
वही तुममें—सुख में है मग्न।

पहले श्लोक में सत्रूपी चेतना और उसकी अविकल छंदोमयता व पारस्परिक संबंध की शक्ति के ऐक्य को करुणा के सागर, पर्वत, सूर्य और जो एक बार खुल जाने के बाद फिर कभी बंद नहीं होता ऐसे हृदय-कमल के प्रतीकों से व्यक्त किया गया है दूसरे श्लोक में वास्तविक आत्मा को पर्वत का बाह्य रूप दिया गया है जिस पर माया जगतरूपी चित्र फेंकती है, और फिर उसीको चेतनारूपी आनंद का आंतरिक रूप दिया गया है। (शिव 'मैं' के रूप में हृदय के आकाश में नाचते हैं और अरुण के रूप में

शांत भाव से ऊपर उभरते हैं।) तीसरे श्लोक में खोज की पद्धति, साधना का वर्णन है, जिसमें साधक और सिद्ध लुप्त हो जाते हैं और केवल आत्मा रहती है। अंतिम दो श्लोक योग, भक्ति और कर्म के पथिकों को सफलता का आश्वासन देते हैं, क्योंकि 'अहं' जहां एक बार लुप्त हुआ कि साधक आनंद के सागर में, जो उसकी वास्तविक सत्ता है, किल्लोल करने लगता है।

पौराणिक प्रतीक को कायम रखने और उसका अर्थ स्पष्ट कर उसमें नव-जीवन संचार करने की पद्धति का उत्कर्ष हमें नीचे के दो पदों में मिलता है। इनमें से पहले की रचना मुरुगनार ने और दूसरे की महर्षि ने की है :

पर्वत

अहं-मन के आघातों कोलाहल के बीच
केंद्रीभूत शांति ही है शैल में छिपा सत्य,
ब्रह्मा और विष्णु ने इसकी ऊंचाई गहराई
जाननी चाही, पर जान नहीं सके।

दीप-दर्शन

'शरीर हूं मैं' यह विचार छोड़कर
अंतर्मुख मन को हृदय में स्थिर कर
सत् के एक मात्र सच्चे आनद को जानना,
उस प्रकाश को है देखना
जो पृथ्वी के केंद्र में
पर्वत-शिखर पर है दमकता।

पर्वत इंद्रियातीत सत् का ठोस और प्रकट प्रतिरूप है, और प्रकाश अशरीरी सत् की आनंदमयी चेतना है।

ये कविताएं हमें दिखाती हैं कि पुराण-कथा के संकेत को स्पष्ट करने से अनुभूति की स्मृति को जगाने और उसका नव-सर्जन करने की शक्ति घटती नहीं, बल्कि वस्तुतः और बढ़ती है। नाम, रूप, वस्तु और क्रिया अलग-अलग होते हुए भी, एक-दूसरे घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। गणित की तरह काव्य में भी शून्य का सशक्त उपयोग हो सकता है। संकेत को स्पष्ट करने से पुराण-कथा का सौंदर्य एकदम नष्ट ही हो जाय, यह जरूरी नहीं है। कवि मन और स्मृति दोनों के साथ खेलता है। तात्कालिक उपभोग के लिए धान को कूटकर उसका छिलका अलग करना होता है; साथ ही वह अंकुरित हो सके, इसके लिए उसे साबुत और अच्छी हालत में रखना होता है। कवि इन दोनों क्रियाओं को एकसाथ साधता है। नदी के किनारे खिले पीले सेवती के फूल को कवि-मन समग्र और अलग-अलग दोनों तरह से अनुभव कर सकता है, वह पीले फूल के साथ-साथ कुछ और भी देख सकता है। यथार्थ और कल्पना एक-दूसरे को और पुष्ट कर सकते हैं। भूगोल, उपाख्यान, धार्मिक अनुष्ठान और गूढ़ार्थ में परंपरा से परस्पर जो मनोसामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया चलती आ रही है, उसका बहिष्कार प्रतीकवाद को नष्ट करना और आसुरी भावना को अधिष्ठापित करना होगा।

10. संगृहीत रचनाएं : दार्शनिक कविताएं

उपदेशसारम्

मुरुगनार (1890-1973) तमिल भाषा के विद्वान् और कवि थे। उनकी पहली रचना **स्वतंत्र गीतम्** देशभक्ति की कविताओं का संग्रह था। वे कविताएं गांधीजी के राजनीतिक स्वतंत्रता और समाज-सुधार के आंदोलन से प्रेरणा पाकर लिखी थीं। परंतु 1923 में जब वे महर्षि के पास आये तो उन पर मुग्ध हो गये और उनका दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति का ढंग बिलकुल बदल गया। वे अपने गुरु की छाया, उनकी कृपा के कीर्तिकार और उनकी शिक्षाओं के प्रवक्ता बन गये। महर्षि की स्तुति में उन्होंने उच्च कोटि की अनेकानेक कविताएं रचीं, जिनमें मनोभावों और छंदों की बहुत ही विविधता है। महर्षि को उनमें शिव, स्कंद, माता, पिता, प्रियतम राजा, भिखारी, द्रोही आदि नाना रूपों में चित्रित किया गया है। इन कविताओं का संकलन है, **रमण सन्निधि मुरै** (रमण सान्निध्य स्तुति-माला)। **गुरु वाचक कोवै** (गुरु सूक्तिमाला) नाम से उन्होंने 1280 पदों का एक बृहत् संग्रह भी निकाला। इसका प्रत्येक पद प्रेम और मनोयोग से गढ़ी गयी एक छोटी-सी स्वर्ग-मंजूषा है, जिसमें महर्षि के अधरों से गिरा कोई-न-कोई रत्न स्थापित और सुशोभित है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने रमण-अनुभूति पर सैकड़ों पद रचे, जो इंद्रियातीत चेतना के लोक की उनकी उड़ानें हैं। अपने इन प्रचुर और अमूल्य भावोद्‌गारों के अलावा मुरुगनार इसलिए भी प्रशंसा और कृतज्ञता के पात्र हैं कि वे महर्षि से कुछ

अत्यंत सुंदर दार्शनिक कविताएं रचवाने में भी सफल हुए। वे अब 'संगृहीत रचनाओं' में मिलती हैं।

इन कविताओं में पहली **उपदेशसारम्** है, जिसमें अद्वैत वेदांत का जीवंत सार है और महर्षि के व्यावहारिक मार्गदर्शन का ठीक-ठीक सूत्रीकरण हुआ है। केवल यही एक कविता ऐसी है जो महर्षि ने 'एक योजना और निश्चित उद्देश्य को लेकर और एक ही बैठक में' लिखी थी। मुरुगनार ने एक लंबी कथात्मक कविता रची थी कि कुछ ऋषियों ने धर्मानुष्ठान करके सिद्धियां प्राप्त कर लीं और फिर उन्हीं के द्वारा वे मोक्ष प्राप्त करने की आशा करने लगे। तब शिव एक संन्यासी के रूप में प्रकट हुए, जिनके साथ विष्णु मोहिनी के रूप में थे। मोहिनी के सौंदर्य से ऋषि इतने मुग्ध हुए कि उनके सब अनुष्ठान छूट गये। उधर, ऋषि-पत्नियां शिव को अपलक देखती रह गयीं और अपने सब कार्य भूल गयीं। ऋषियों ने तब अपनी सिद्धियों के बल से एक हाथी और एक सिंह पैदा कर उस विघ्नकारी पर छोड़ दिये। शिव ने दोनों को मार डाला और उनकी खालों को वस्त्र की तरह धारण कर लिया। तब ऋषियों की समझ में आया कि यह तो उनसे कोई ऊंची शक्ति है और उन्होंने संन्यासी को गुरु मान उससे उपदेश मांगा।

कवि मुरुगनार कथा को इस बिंदु तक ले आये और जब उसके चरमोत्कर्ष की बारी आयी जहां शिव ऋषियों को सर्वोच्च ज्ञान का उपदेश देते हैं, तो उन्होंने महर्षि से प्रार्थना की कि उस उपदेश को वे अपने शब्दों में रखें।

तमिल की इस कविता की टेक, 'उंदीपर' का प्रयोग यहां इस प्रकार हुआ है जैसे कोई मां बच्चे को अपने पेट पर उछालती हुई गाती हो। इसमें कई ध्वनियां हैं और प्रसंग के अनुसार इसका अर्थ यहां यह हो सकता है :

खेलो, मुन्ने, बड़े हो;
कोशिश करो, पंछी, उड़ो;
जानो और आनंद बनो;

महर्षि अपनी बात समझा कर कहने के लिए किसी ग्रंथ की रचना करें या प्रवचन दें, इसके लिए कोई उन्हें राजी नहीं कर सकता था। परंतु इस नाटकीय योजना में उनके सम्मुख इस बात का आदर्श अवसर था कि वे पुरुष और प्रकृति, आत्म-तत्त्व और जड़-तत्त्व, चेतना और कर्म की अभिन्नता की अनुभूति की ओर ले जानेवाले सिद्धांत और व्यवहार को स्वयं अपने शब्दों में साफ-साफ सार रूप में प्रतिपादित करें।

कविता का पूर्वार्ध परंपरा की वह क्षेत्र-भूमि है, जिसमें से महर्षि की अपनी मौलिक शिक्षा वाला उत्तरार्ध स्वाभाविक रूप से एक जीवंत और सुसंपूर्ण वस्तु की तरह प्रकट होता है। कर्म, भक्ति और योग के मार्ग ज्ञान के प्रारंभिक या सहायक साधन हैं। परंतु ज्ञान इन सभी में सन्निहित है और साथ ही उसका स्वतंत्र रूप से भी महत्व है।

इस आख्यान में विष्णु, मोहिनी के रूप में, अपने मादक सौंदर्य के जादू से ही ऋषियों का गर्व चूर-चूर कर देते हैं। परंतु आदि गुरु शिव, जो शुद्ध चेतना के प्रतिरूप, यज्ञाधिपति और मोक्षदाता माने जाते हैं, इस सत्य के उपयुक्त व्याख्याता हैं कि चेतना ही एकमात्र सत्ता है। पर इस कविता को इसके मूल से अलग भी किया जा सकता है और एक ऐसे गुरु की शिक्षा का सुगठित निरूपण माना जा सकता है जिसकी अपनी अनुभूति ही उसे प्रामाणिक बना देती है। आधुनिक अध्येताओं के लिए, संभवतः, इस कविता का इसके संदर्भ से अलग, इस तरह का अध्ययन ही ज्यादा अच्छा रहेगा, क्योंकि ऐतिहासिक प्रामाणिकता का लाभ पौराणिक संदर्भ की हानि से कहीं अधिक ही बैठेगा। ओज और सुनिश्चितता, विशद और सीधी

शैली, तीव्रता और, सबसे अधिक, महर्षि के संदेश का व्यावहारिक स्वरूप — इन सबसे यह कविता अपने-आप में एक लघु 'क्लासिक' बन गयी है। सुयोग्य आलोचकों ने इसे एक समकालीन उपनिषद् कहा है। यह तमिल, संस्कृत, तेलुगु और मलयालम चारों रूपों में है जो महर्षि के स्वयं रचे हुए हैं, और आश्रम में तथा अन्यत्र वेद-पारायण के उपसंहार के रूप में नियम से गायी जाती है। काव्यकंठ गणपति शास्त्री, श्री बी. वी. नरसिंह स्वामी, न्यायमूर्ति श्री अनंतनारायणन्, आदि ने इस पर स्वतंत्र रूप से विविध टीकाएं रची हैं, और इसके तीस पदों को तो एक प्रकार से धर्मग्रंथ का दर्जा मिल चुका है। यह सर्वोच्च उपदेश पहले उन थोड़े-से चुने हुए साधकों के लिए ही प्राप्य था जो पर्याप्त प्रारंभिक अध्ययन और तैयारी कर चुके होते थे। परंतु अब यह जान-बूझकर सभी के लिए प्रकाशित कर दिया गया है और सभी को इसके मनन का सुझाव दिया जाता है—यह बात स्वयं काफी महत्व रखती है। परंपरागत ज्ञान से अंतर्मुखी अन्वेषण के व्यावहारिक प्रशिक्षण में प्रवेश का चमकीला संकेत हमें 17वें पद के इन शब्दों में मिलता है: 'यह सीधा मार्ग सभी के लिए खुला है।'

अपने लिए किया गया कर्म आगे और कर्म की लालसा पैदा करता है और मनुष्य को कर्म के सागर में गहरा खींचता जाता है। परंतु प्रभु को अर्पित (अर्थात्, लोकहित के लिए किया गया) निःस्वार्थ कर्म मनुष्य को बांधता नहीं है, अपितु मन को निर्मल करता है और मनुष्य की चेतना को उन्नत व व्यापक कर मोक्ष का मार्ग दिखलाता है।

कर्मकांड और अनुष्ठान, प्रतिमा की पूजा-अर्चना—ये साधन स्थूल होने के कारण स्तुति और मानसिक ध्यान की अपेक्षा निम्न-स्तर के हैं। केवल यही नहीं, अपितु सारी सृष्टि के लिए सम्मान और जीव-मात्र की सेवा ही सर्वोत्तम पूजा है, क्योंकि ये सब जीवंत ईश्वर की दृश्य और मूर्त अभिव्यक्तियां हैं। काव्यकंठ ने इसे **पूर्ण पूजा** कहा है। मुरुगनार ने भी शिवपूजा

की परिभाषा इस प्रकार की है :

पंचतत्वों में, सूर्य में, चंद्र में,
सभी जीवों में,
तेजोमय रूप एक
उन्हींका देखना,
सभीकी समयोचित सेवा
सबके लिए उचित संवेदना—
यही है यही सर्वोत्तम
नित-नयी शिवोपासना ।

प्रकृति के लिए इस तरह के सम्मान और जीव-मात्र की इस सप्रेम सेवा में ध्यान और पूजा चेतना और कर्म की एक ही गतिविधि में लीन हो जाते हैं, द्वैत की सारी भावना मिट जाती है, और धार्मिक और लौकिक के बीच की दीवार भी गिर जाती है । परंतु जब पात्र कृत्रिम न होकर स्वाभाविक हो, काल्पनिक न होकर वास्तविक और मूर्त हो, तब भी उसकी सेवा या पूजा में बीच-बीच में अंतराल तो होगा ही, जबकि मौन ध्यान सतत् अंतरंग और विशुद्ध हो सकता है और होना चाहिए । इसीलिए उससे सत् के साथ तादात्म्य की भावना, सोऽहं[1] का सक्रिय अभ्यास सुदृढ़ होता है । इस प्रकार गहरी भक्ति, साधना के उपाय के रूप में, कर्म से और उसके लक्ष्य के रूप में, ज्ञान से भिन्न नहीं है । सत् के केंद्र में वास ही एकमात्र सत्य है । कर्म-भक्ति और योग का जहां वह लक्ष्य है, वहां ज्ञान का तो वह कुल जोड़ और निचोड़ ही है ।

अपने श्वास-निश्वास के गहरे निरीक्षण से न केवल उसे नियमित करने

---

[1]वह मैं हूं ।

में, अपितु मन को बाह्य पदार्थों से हटाने और इस प्रकार उसे नियंत्रित करने में भी सहायता मिलती है। वस्तुतः, श्वास का (जो जीवन का कर्म है) और मन का (जो जीवन की चेतना है) एक ही मूल है, और ये एक-दूसरे से संबद्ध हैं। प्राणायाम से नियंत्रित अहं-मन **एकचिंतन, ऐक्यानुसंधान** द्वारा सदैव के लिए नष्ट किया जा सकता है। अंतर्मुख हुआ सजग मन जब अपने रूप और स्वभाव की छान-बीन करता है, तो पता चलता है कि पृथक् मन जैसी कोई सतत सत्ता नहीं है, कि मन केवल विचारों का बना है, कि सभी अन्य विचार 'मैं' के विचार से पैदा होते हैं, जो पृथक्ता की भावना का मूल स्रोत और दृढ़ अवलंब है।

'मैं' के विचार के स्रोत को खोजते हुए, मन का सामना शुद्ध अटूट चेतना से होता है, जो कि हमारी वास्तविक सत्ता है, और वह उससे अभिभूत हो जाता है। निद्रा में 'मैं' का विचार नहीं होता, पर यह चेतना फिर भी बराबर रहती है। अतः 'मैं' शब्द का मुख्य अर्थ **शुद्ध** चेतना ही है। शरीर, श्वास, मन, बुद्धि और निद्रा का मूढ़ आनंद—ये सब जड़ और मिथ्या हैं। किंतु हम सब चैतन्य-रूप हैं, चेतना ही हैं। पर इस चेतना को हम जान नहीं सकते, हम केवल चेतना 'हो' सकते हैं। इस चेतना के साथ तद्रूप अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेने से, हम ज्ञान और अज्ञान के जो अन्योन्याश्रित हैं, पार चले जाते हैं। हम तब अनंतता के आनंद का उपभोग करते हैं। इस अवस्था में बंधन या मुक्ति का कोई विचार नहीं होता; जीवन तब सारी सृष्टि की सतत और अविचल सेवा बन जाता है। इस प्रकार अहं की भावना के बिना जीना ही एकमात्र सच्ची तपस्या है, क्योंकि **साधना** (साधकों द्वारा सोच-समझकर किया जाने वाला प्रयास) तो ज्ञानी का **लक्षण** (स्वतःस्फूर्त आनंदमय व्यवहार) ही होता है। महर्षि को 'आत्मविचार' की यह पद्धति केवल सम्यक् ध्यान के लिए ही नहीं, अपितु सुखी और सफल जीवन के लिए भी एक अचूक और निर्दोष तकनीक

है, उनके शिष्यों का यह दावा इस छोटी-सी कविता की दिशा और निष्कर्ष से अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है।

सत् चालीसा

मुरुगनार के ही अनुरोध पर महर्षि द्वारा 1928 के आसपास, विभिन्न अवसरों पर लिखे गये फुटकर पद संकलित किये गये, पुनरावृत्ति में थोड़े सुधारे गये और नये पद उनमें जोड़े गये। इस प्रकार **उल्लदु नार्पदु** (सत् चालीसा) नाम का एक बहुमूल्य ग्रंथ बन गया। बाद में काव्यकंठ गणपति मुनि ने उन्हें संस्कृत के सुमधुर श्लोकों में रूपांतरित कर उस संकलन को **सद्दर्शन** नाम दिया। इसपर टी. वी. कपाली शास्त्री, लक्ष्मण शार्मा,[1] डॉ. टी. एम. पी. महादेवन्, स्वामी पूर्णानंद तीर्थ आदि के भाष्य हैं, जिनसे यह 'चालीसा' गहन अध्ययन के लिए एक उपयुक्त ग्रंथ बन गया है, और कभी-कभी वाद-विवाद के लिए बहाना भी बन जाता है। इस 'चालीसा' के बाद परिशिष्ट के रूप में चालीस पद और रचे गये, जिनमें से लगभग आधे **योग-वसिष्ठ** और अन्य संस्कृत ग्रंथों के श्लोकों के अनुवाद हैं। इन दोनों संकलनों में किसी विषय को चालीस पदों में प्रतिपादित करने की तमिल की साहित्यिक परंपरा[2] का पालन हुआ है, उदाहरणार्थ **इनियवै नार्पदु** (प्रिय चालीसा) और **इन्ना नार्पदु** (अप्रिय चालीसा) का नाम लिया जा सकता है। वैसे इस परंपरा को 'सत्य चालीस है'—इस विचार के रूप में कभी-कभी हास्यास्पद भी बना दिया गया है टीकाओं में परिशिष्ट-सहित इन अस्सी पदों की इस तरह व्याख्या की गयी है जिससे विषय का उत्तरोत्तर विकास

लक्ष्मण शर्मा की कृतियां 'हू' ('कौन') उपनाम से है।

यह परंपरा प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में रही है; उदाहरणार्थ, तुलसीदास-कृत 'हनुमान चालीसा'।

स्पष्ट होता है और इन्हें **विवेक विचार और अनुभव** जैसे शीर्षकों में विभाजित किया गया है परंतु इन **वेब्बाओं** को स्वयं में पूर्ण मानना ही सर्वोत्तम है। वस्तुतः, इन्हें ऐसे सुस्पष्ट संकेत-पट माना जा सकता है जो भीतर 'जो है'—उसकी ओर, अखिल सत्य के शांत केंद्र, अखंड और अवर्णनीय चैतन्य की ओर इशारा करते हैं। हमारे वैचारिक जीवन-चक्र के विभिन्न स्थलों को ये पद, आरों की तरह, उस नाभि से जोड़ते हैं जो शुद्ध चेतना की इस धुरी पर घूमती है। प्रत्येक पद, भारी हथौड़े की चोट की तरह, अपने पूरे भीतरी भार के साथ, अंह पर पड़ता है—केंद्र से भटकानेवाली उस शक्ति पर पड़ता है जो हमें हमारे सच्चे आत्म से अलग करती है और परिधि पर दिखनेवाली एक के बाद दूसरी घटनाओं में जड़ीभूत करती रहती है।

मंगलाचरण

सत् से अलग सत् की
क्या चेतना है संभव ?
जो है, वह तो विचार-मुक्त
रहता हृदय के अंदर,
जो है, जिसका एक नाम है 'हृदय',
उसके विषय में भला
कौन, कैसे सोच सकता ?
जो है, जो है हृदय का 'हृदय',
उसके विषय में सोचना
तो है वही होकर रहना।
मृत्यु के भय से आक्रांत जन
अनादि अनंत सर्वशक्तिमान

ईश्वर के चरणों में लेते शरण,
इस समर्पण से फिर उनका
और उनकी आसक्तियों का
अस्तित्व नहीं रहता,
वे अब हो जाते अमर
मृत्यु की करते नहीं चिंता।

मंगलाचरण के इन दो पदों में दो अलग-अलग मार्गों की व्यवस्था है। पहला पद, जो शुद्ध तमिल शब्दों से बुना गया है, सत्-चित् और हृदय की एकता की सशक्त घोषणा है। तमिल धातु उल पर, जो होने, सोचने, हृदय और अभ्यंतर—सब में मिलती है, यह पद बड़े प्रेम से घूमता है। ये सभी अखंड एकता और पूर्णता से जुड़े हैं। उल (होना) क्रिया की, जिसका न भूतकाल होता है न भविष्यकाल, इसमें आठ बार पुनरावृत्ति हुई है। उल्लम् (हृदय) की तीन बार, उल्लु (सोचना) की तीन बार, और उनर्वु (भावना) की दो बार पुनरावृत्ति हुई है। इस प्रकार यह पूरा वेण्बा अपने स्वर, संकेत और स्पष्ट कथन से मन को भीतर खींचकर सत्-चित् के बिलकुल केंद्र तक ले जाता है।

दूसरे वेण्बा में मनुष्य की साकार ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए उन भक्तों की इहकालिक अमरता की प्रशंसा की गयी है जिन्होंने मृत्यु के भय से 'मैं' और 'मेरे' की अपनी भावना शिव को समर्पित कर दी है। शिव सत् के परमेश्वर हैं और मृत्यु की पहुंच से परे हैं। इस पद की पहली दो पंक्तियों में, जहां द्वैत की भावना प्रधान है, संस्कृत शब्दों की यथोचित बहुलता है। किंतु निष्कर्ष में, जहां नश्वर आत्म-भाव को ईश्वर की अनश्वर सत्ता में खो देने की प्रशस्ति है, एकता और पूर्णता की भावना, आसक्ति और मृत्यु के विचार से मुक्ति पुनः शुद्ध

तमिल शब्दों द्वारा संप्रेषित की गयी है।

इस रचना का उद्देश्य सत्ता-मीमांसा या ज्ञान-मीमांसा के किसी सिद्धांत को तर्क द्वारा स्थापित करना नहीं है। इसका उद्देश्य तो पूर्णता की वास्तविक अनुभूति को पृथक् 'अहं' के पूर्ण अभाव और सत्-चित् की एकमात्र उपस्थिति के रूप में स्पष्ट सरल उक्तियों और सतत अभ्यास द्वारा संप्रेषित करना है। मतों के सब वाद-विवाद 'अहं' की शरारत मानकर अस्वीकृत कर दिये गये हैं। 'अहं' ही अनेकता, संशय और संघर्ष का मूल है। मन को दृढ़ता से अंदर की ओर मोड़ा जाता है और शुद्ध निरपेक्ष चेतना में, उस मूलाधार में जहां जगत् और उसका बोध उठता और मिटता है, लीन कर दिया जाता है। यह नाम-रूपहीन चेतना, 'मैं हूं' की सदा विद्यमान चेतना, ही वह है **जो है** और इसीको स्मरण करने, इसीपर जमे रहने और इसी में लीन होने को कहा गया है। **जो है** वह आदि सत्-चित् है, जो अगणित पदार्थों और असंख्य संबंधों में प्रकट होने की शक्ति रखता है। चेतना में टिका यह सत्य ही हमें इस दृश्यमान जगत के रूप में, और इसे देखनेवाले तथा इसमें अपनी-अपनी भूमिकाएं निभानेवाले हम सबके रूप में प्रकट होता है। नामों और रूपोंवाला यह विश्व-चित्र, द्रष्टा, चित्रफलक और आलोकित करनेवाला प्रकाश—सब एक सत्-चित् ही है। परमात्मा, विश्व और जीवात्माओं में जो भेद करता है, वह 'अहं' है। 'अहं' जब लुप्त हो जाता है तो ये तीनों एक दिखाई देते हैं। जगत मन की रचना है, हम सब की संयुक्त रचना है। वैयक्तिक मन, प्रत्येक अपनी स्थिति से, उसे देखता है और सत्य पर जिसकी जितनी पकड़ है, अर्थात् जो सापेक्ष और सीमित सत्य वह देख पाता है, उसके अनुसार वह जगत से उसे उपभोग करने, सहन करने या बदलने का अपना संबंध जोड़ लेता है। अंतिम और एकमात्र सत्य तो सत् ही है—ब्रह्म, जिसमें जगत् और उसका बोध उठता और मिटता है, परंतु जो स्वयं उठे और मिटे बिना सदैव दीप्त

रहता है। इसी नामहीन रूपहीन अनंत सत् पर पहुंचने और उसे जानने के लिए हम, विभिन्न नामों और रूपों में, उसके कुछ पहलुओं और प्रतिबिंबों की 'पूजा' करते हैं। परंतु वस्तुतः हम उसे केवल अनुभव में, अनुभव से और अनुभव के रूप में ही जान सकते हैं। अपनी सत्ता को उस चेतना की सत्ता में समझकर, हमें विनम्रता से अपने को उसके आगे समर्पित कर देना चाहिए, उसमें लीन कर देना चाहिए और उसके साथ एकाकार हो जाना चाहिए। नाम और रूपवाला उपासक और नाम और रूपवाला ईश्वर, जिसकी वह उपासना कर रहा है, दोनों मिलन के अवर्णनीय आनंद में लुप्त हो जाने चाहिए (पद-8)। इस विचार पर कि आनंदमय मिलन में मनुष्य बराबर का, पर अपेक्षाकृत निष्क्रिय भागीदार है, वह भोक्ता न होकर भोग्य हैं, बार-बार जोर दिया गया है।

द्रष्टा के भीतर देखे बिना ईश्वर को देखना, मात्र एक मानसिक बिंब को देखना है। ईश्वर को कोई देख नहीं सकता; ईश्वर को 'देखा है'— केवल यह स्मरण कर सकता है। ईश्वर को उसने तब 'देखा है' जब उसका पृथक् आत्म नहीं रहा, मिट गया और जब केवल ईश्वर ही आनंद के रूप में रहा। हम ईश्वर को जान नहीं सकते, हम केवल आनंद को जान सकते हैं, उसके द्वारा उपयुक्त होने, खाये जाने, उसका अन्न या भोग्य बनने के आनंद को ही जान सकते हैं (पद 20, 21)। पद 22 हृदय के स्वयंदीप्त आनंद की प्रधानता पर जोर देता है। ब्रह्म मन को प्रकाश देता है और स्वयं अंदर दीप्त रहता है। मन को अंतर्मुख करके हृदय में टिकाये बिना, कोई मन से हृदय को जान ही कैसे सकता है? क्या सूर्य को कोई मोमबत्ती जलाके देखता है?

शुद्ध इंद्रियातीत चेतना के इस आनंदोपभोग को, किसी अनिश्चित भावी काल के लिए स्थगित न करके, यहीं और अभी अपनी आस्था बना लेना चाहिए, और आनंद के रूप में सदा विद्यमान सत्-चित् की झलकियों को

अपने भीतर देखने, सुनने और पहचान का ढंग सीखना चाहिए। कारण, कि हमें यह विश्वास दिलाया गया है कि शुद्ध चैतन्य ज्ञान और अज्ञान दोनों से परे है और पदार्थों का ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है। सत् (शुद्ध अनंत सत्ता) और 'आत्म' (शुद्ध अनंत चेतना का 'मैं') दोनों सदा विद्यमान हैं और दोनों अज्ञेय हैं। परंतु 'अखंडता' की, पृथक्ता के अभाव की, अहं के पार जो सत् चित् हैं उनकी अनुभूति तो आनंद के रूप में ही हो सकती है। इसीलिए उत्तम पुरुष (स्वयं) की सचाई की खोज करने पर साधक की समझ में आता है कि पृथक् सत्ता के रूप में तो उसका अस्तित्व ही नहीं है। तब यह दिखाई देता है कि तीनों (उत्तम, मध्यम और अन्य) पुरुष एक ही में दीप्त हैं, और एक अनन्य चेतना के रूप में जीवमात्र के साथ तादात्म्य ही उसका सच्चा स्वरूप है और सहज जीवन की शर्त है। चेतना को सत्य मानते हुए, उसका सम्मान करते हुए और उसमें भाग लेते हुए, दूसरों के साथ अपना अधिकाधिक तादात्म्य ही सच्चा आध्यात्मिक जीवन और सहज जीवन है। यह कोई ऐसा काम नहीं है जो टाला जा सके। यह तो यहीं, अभी, इसी क्षण शुरू हो जाना चाहिए। अतः वर्तमान में जीना ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

भूतकाल और भविष्यत् काल केवल वर्तमान से जुड़कर ही टिक सकते हैं। भूत और भविष्यत् दोनों अपने-अपने समय में वर्तमान होते हैं। वास्तविक काल अकेला वर्तमान ही है। वर्तमान के सत्य को वर्तमान में ही जाने बिना, भूत और भविष्यत् को जानने का प्रयास, इकाई को गिने बिना किसी संख्या को गिनने जैसा ही है (पद 15)। अतीत की स्मृतियां और भविष्य की प्रत्याशाएं मात्र छायाएं हैं। काल का सार तो, जिसके साथ हम ठोस ढंग से व्यवहार कर सकते हैं, वर्तमान ही है। इसीलिए साधक का सरोकार कालातीत से इसी क्षण में है, उसे चेतना में अनुभव करना है और स्वतःस्फूर्त कर्म द्वारा उसमें शामिल होना है।

हम शरीर नहीं हैं, चेतना हैं, अतः काल और देश हममें हैं, हम काल और देश में नहीं हैं (पद 16)। शरीर अज्ञानी और ज्ञानी दोनों के लिए वास्तव में है। परंतु अज्ञानी के लिए 'मैं' शरीर तक सीमित है, जबकि ज्ञानी के लिए 'मैं' असीम चेतना के रूप में दीप्त है (पद 17)। जगत अज्ञानी और ज्ञानी दोनों के लिए वास्तव में है, जबकि ज्ञानी के लिए जो केवल नाम और रूपवाला जगत् ही वास्तव में है, जबकि ज्ञानी के लिए जो जगत हम देखते हैं उसका मूलाधार सत्-चित्-आनंद है (पद 18)।

भाग्य और संकल्प का जो विवाद दिखाई देता है, वह यह समझ लेने से मिट जाता है कि भाग्य और संकल्प दोनों का संबंध 'अह' और उसकी कामनाओं और निराशाओं से है (पद 19)।

निर्जीव शरीर न तो 'मैं' को जानता है, न 'मैं' की कोई बात करता है। सत्-चित् सदा विद्यमान है, वह न उदित होता है न अस्त। परंतु इन दोनों के बीच, और शरीर से जुड़ा, कुछ और उठता है जो अपने-आपको 'मैं' कहता है। यह छलिया ही गांठ बांधता है जिससे चित् और जड़ (चेतना और निर्जीव शरीर) परस्पर जुड़ जाते हैं। यही बंधन है, जीवात्मा है, सूक्ष्म शरीर है, अहंवृत्ति है, नाना जन्मों का चक्र है, मन है (पद 24)।

यह रूपहीन प्रेत किसी रूप (शरीर) से चिपक कर अपना अस्तित्व धारण करता है। अनेक रूपों (विचारों) से चिपक कर यह टिका रहता है। एक रूप को छोड़कर यह दूसरे को पकड़ लेता है। परंतु यदि इसकी छानबीन की जाय तो यह भाग खड़ा होता है (पद 25)। 'अहं' वस्तुतः एक छलिया है और उसे जो महत्वपूर्ण स्थिति प्राप्त है वह उसी तरह निराधार है जिस तरह कि कहानी में दूल्हे के तथाकथित मित्र की स्थिति थी। (एक विवाह-समारोह में, जो पहले कई दिन चला करता था, एक अनजान आदमी के एक-दो दिन खूब ठाट रहे, क्योंकि लड़कीवाले उसे

दूल्हे का मित्र समझते रहे। परंतु जब यह छान बीन शुरू हुई कि वह कौन है, तो वह सफाई से गायब हो गया और तब उसकी सबसे ज्यादा बदनामी हुई।)

अब छानबीन के लिए अभ्यास का तकनीक बतलाते हैं :

जैसे किसी रत्न के जल में गिरते ही मनुष्य उसे निकालने के लिए तुरंत जल में डुबकी लगाता है, वैसे ही मनुष्य को वाणी और श्वास पर नियंत्रण रखते हुए, पैनी बुद्धि से अपने भीतर डुबकी लगानी चाहिए और यह मालूम करना चाहिए कि यह अहंवृत्ति कहां से उठती है (पद 28)।

मन जब अतंर्मुख होकर यह जिज्ञासा करता है कि 'मैं कौन हूं ?' और 'हृदय' के निकट पहुंचता है, तो अपने को 'मैं' कहनेवाला वह छलिया दर्पच्युत हो लुप्त हो जाता है और एकमात्र चेतना ही अपने-आप मैं-मैं के स्फुरण के रूप में उठती है। यद्यपि वह 'मैं' के रूप में प्रकट होती है, पर वह अहंवृत्ति नहीं है; वह पूर्ण है, वह वास्तविक आत्मा है (पद 30)।

यह सिद्धांत कि खोज के समय द्वैत होता है और आत्मोपलब्धि हो जाने पर अद्वैत, सही नहीं है। आत्मा की जब उत्सुकता से खोज हो रही है और जब वह मिल जाती है, दोनों स्थितियों में 'दसवां आदमी' तो वही है, कोई और नहीं है (पद 37)। (दसवें आदमी की कथा आत्मा की सर्वमान्य विस्मृति के लिए एक परंपरागत उदाहरण है। कथा यह है कि दस नव-युवक एक साथ यात्रा कर रहे थे। रास्ते में उन्हें एक ऐसी नदी पार करनी पड़ी जिसमें बाढ़ आयी हुई थी। नदी के उस पार पहुंच जाने पर उनके मन में शंका हुई कि हममें से कोई बाढ़ में बह तो नहीं गया, और यह निश्चय करने के लिए कि सभी सकुशल पार पहुंच गये हैं या नहीं, वे अपने साथियों को गिनने लगे। उन्होंने बार-बार गिनती की और जोड़ हर बार नौ ही निकला, क्योंकि जो भी गिनती करता था वह अपने-आपको गिनना भूल जाता था। तब यह मानकर कि उनमें से एक नदी में डूब गया है, वे

वहीं बैठकर शोक करने लगे। तभी एक राहगीर वहां से गुजरा। उसने उनके शोक का कारण पूछा और उसे उनकी गलती तुरंत पता चल गयी। वह बोला, तुम एक-एक कर मेरे सामने से गुजरो, मैं हरेक के एक थप्पड़ लगाऊंगा, तुम थप्पड़ों को गिनते जाना। जब उसने यही किया तो उन्हें यह बात समझ में आ गयी कि गिनती करते हुए हरेक अपने को गिनना भूल गया था।) इस दृष्टांत का प्रयोग ऐसे व्यक्ति के लिए भी किया जा सकता है जो जीवन में बहुत-सी भूमिकाएं अदा करता है, पर उन सब भूमिकाओं के पीछे जो वास्तविक सत्ता है उसी को भूल जाता है। हम यह, वह या कुछ और होने से पहले भी, होते समय भी और होने के बाद भी हैं।

'चालीसा' के परिशिष्ट में आरंभ में शंकराचार्य के ऐसे वचनों का अनुवाद है जिसमें सत्संग के महत्व पर जोर दिया गया है। शुद्ध चैतन्य, कालातीत की अनुभूति मौन द्वारा ही सबसे अच्छी तरह संचारित होती है और वस्तुतः सिद्ध पुरुषों की संगति में ही बड़ी आसानी से उसे अनुभव किया जा सकता है तथा उसमें भागी बना जा सकता है।

पद 6, 7 और 8 महर्षि की मुख्य शिक्षा को उसकी सशक्त सरलता और व्यावहारिक समझ के साथ प्रस्तुत करते हैं। सत् और चित् की एकता के उनके पूरे दर्शन को ये सार-रूप में रख देते हैं। यह दर्शन अस्तित्व के धरातलों व चेतना की स्थितियों के विवेचन और इसी तरह की अन्य गुरु-गंभीर बातों से एकदम मुक्त है। इसके अतिरिक्त ये पद 'आत्म-विचार' की उनकी तकनीक को भी प्रदर्शित करते हैं, जिससे यह सुस्पष्ट और सभी के लिए पर्याप्त दर्शन प्रत्येक सच्चे साधक के लिए सुलभ और सुगम हो जाता है और वह इसके रूप को समझ कर तथा दैनिक जीवन में प्रयुक्त कर इसे आत्मसात् कर सकता है। उसे चाहे ईश्वर कहो या आत्मा, एक-मात्र सत्य वह चेतना ही है जो मन को देखती है—वह ज्योति, जो जगत

को रचती भी है और देखती भी है; वह चेतना, जो प्रत्येक मानव हृदय में 'मैं' के रूप में निस्संदेह विद्यमान है; हमारी वास्तविक सत्ता, जिसे हम अपने मन और श्वास की नीरवता और गतिविधियों का निरीक्षण कर निष्क्रिय या सक्रिय शुद्ध चैतन्य के रूप में अनुभव कर सकते हैं।

कुछ और पदों में महर्षि वह उपदेश उद्धृत करते हैं जो राम को उनके गुरु वशिष्ठ ऋषि ने दिया था। इसका विषय है—आध्यात्मिक हृदय जो देश और काल से परे है, चेतना और वीरोचित कर्म : "अपनी सत्ता के सत्य को दृढ़ता से हृदय में धारण करते हुए विश्व-मंच पर अपनी भूमिका वीरनायक की तरह निभाओ, अर्थात् अंदर से शांत और अनासक्त रहो, परंतु विविध परिस्थितियों में अपनी विशेष भूमिका के अनुरूप उत्साह और उल्लास, स्फूर्ति और विरक्ति, पहलकदमी और प्रयत्न को अपनाओ और बाह्य कर्म करो।" दूसरे शब्दों में, आत्मज्ञान की खोज, मोक्ष की गहरी इच्छा, और साहसिक वीरोचित कर्म दोनों साथ-साथ चलते हैं। इस तरह के कार्य के लिए श्रीराम को जो आह्वान है, वह वस्तुतः हमारे लिए है। बाह्य कर्म या धर्म के पालन में साधक और सिद्धपुरुष के बीच कोई भेद नहीं है। साधक निःस्वार्थ कर्म को सोच-समझकर, अनुशासन मानकर करता हैं। वह उसके लिए अन्य प्राणियों के साथ अपनी एकात्मता खोजने की एक साधना होती है। परंतु श्रीराम या जनक जैसे ज्ञानियों में निःस्वार्थ कर्म उसी एकात्मता की स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति होता है। साधक के लिए जो साधना है, वह सिद्धपुरुष का लक्षण बन जाता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'चालीसा' के पद 35 में और 'परिशिष्ट' के पद 15 और 16 में महर्षि सिद्धियों की निंदा करते हैं और उन्हें मार्ग में बाधक और ध्यान को भटकानेवाली बताते हैं। यह सारी पदावली वेदांत के इस सार की घोषणा के साथ समाप्त होती है कि **अहं जब मर जाता है तो जो बचता है वह शुद्ध चैतन्य का 'मैं' है।**

इन अस्सी पदों को अंतिम रूप और इनका वर्तमान अनुक्रम देने का श्रेय मुरुगनार को है। परंतु उन्होंने यहीं बस नहीं की, अपितु महर्षि के आगे एक और कार्य रखा जो उन्होंने विनम्रता से आत्मविद्या में पूरा कर दिया। मुरुगनार ने एक गीत ऐसे राग में शुरू किया जिसे गोपालकृष्ण भारती अपनी नंदनार जीवनी में प्रयुक्त कर पहले ही लोकप्रिय बना चुके थे। उन्होंने धुन तो वही रखी पर अर्थ उलट दिया और गीत इस तरह शुरू किया, 'आत्मज्ञान, भाई, बड़ा ही सरल है।' गीत का उद्देश्य केवल हस्तामलक की उपमा को अस्वीकार करना है। यह अनुभूत कैवल्य इतना स्पष्ट, इतना मौलिक है कि इसे न द्रष्टा की जरूरत है न दृश्य की और न यह उन्हें स्वीकार ही करता है। यहां तक पहुंचने के बाद, मुरुगनार ने तर्क को जारी रखने का काम महर्षि पर छोड़ दिया। कारण, कि कवि तो केवल यही कह सकता था कि 'शेष नीरवता है' और गान बंद कर सकता था, परंतु महर्षि इंद्रायातीत आनंद के अपने अधिकार के बल पर बोल सकते थे। अत: महर्षि ने साधना और भगत्कृपा के स्पर्श के मर्म को स्पष्ट करने वाले कई पदों की रचना की, और अंत में, एक तरह से मुद्रा के तौर पर, यह इंगित कर दिया कि असली गायक अण्णामलै, अंदर का मैं, वह 'केवल' ही है।

अपनी अंतिम कविता, एकात्मपंचकम् (एक आत्मा पर पांच पद) महर्षि ने फरवरी, 1947 में रची। यह भी बहुत-कुछ कौशल का कार्य था। आंध्र के कुछ भक्त चाहते थे कि महर्षि तेलुगु वेण्बाओं पर भी अपना हाथ आजमाएं, यद्यपि वेण्बा उस भाषा के लिए एक नयी विधा थी। उनकी खुशी के लिए महर्षि ने कुछ समय बाद ही तेलुगु में पांच फड़कते वेण्बा रच दिये, जिनका बाद में उन्होंने स्वयं तमिल वेण्बाओं में अनुवाद किया। विचित्र बात यह है कि यह कविता 'आत्म-विचार' के उनके प्रिय तकनीक पर ही चुटकियां लेती है, और इस तरह उस विचित्र भ्रांति पर जिसके

कारण यह प्रयोग आवश्यक हो जाता है खेद प्रकट करती है।

जो है सदा आत्मा, वह स्वयं से ही पूछता
"कौन हूं मैं, क्या मेरा ठिया-ठिकाना ?"
जैसे कोई मद्यप कभी पूछने लगता
"कौन हूं मैं, भला, कहां हूं मैं, भला ?"
देह है असल में आत्मा के अंदर,
पर व्यक्ति प्रायः यही समझा करता
वह स्वयं है इस जड़ देह के अंदर,
चलचित्र जैसे चलता पर्दे पर
पर कोई-कोई दर्शक सोचता है यही
कपड़े का यह टुकड़ा है चित्र के अंदर।

11. संगृहीत रचनाएं : अनुवाद और रूपांतर

भक्ति-रस की कविताओं की तरह, प्राचीन ग्रंथों के ये अनुवाद और सार-संकलन भी यही दिखाते है कि महर्षि न केवल ज्ञान-मार्ग के पथिकों को सहायता और प्रोत्साहन देने के लिए सदा तैयार रहते थे, अपितु इसके लिए उपलब्ध साहित्य का भी, जहां तक कि वह 'आत्म-विचार' द्वारा आत्मोपलब्धि की उनकी मुख्य शिक्षा को स्पष्ट या पुष्ट कर पाता था, उपयोग कर लेते थे। अभिव्यक्ति की मौलिकता की वे कतई परवाह नहीं करते थे। हाथ में मौजूद पुराने सोने को, जिसके खरेपन में कोई शक नहीं है, वे फेंकने को तैयार नहीं थे, फिर वह चाहे शंकराचार्य के चिंतन के ठोस पासों के रूप में हो या शिव और कृष्ण के सजीव मार्मिक बिंबों के रूप में। जिस तरह निष्फल शाब्दिक अनुकरण, जो व्यंजनों की सूची को ही भोज या वर्णन को ही अनुभव मान बैठता है, अतीत की दासता है, उसी तरह पुरातन मात्र का त्याग और अंधा विद्रोह भी अतीत की दासता है। शब्द और भाव, प्रतीक और उसके द्वारा प्रतिबिंबित मनोसामाजिक यथार्थ के पारस्परिक संबंध और भेद को यदि हम एक बार समझ लें, तो ताजे मन से गीता या शंकराचार्य के वचनों का मनन कर सच्ची प्रगति कर ही सकते हैं। कारण, भारतीय परंपरा में प्रगति रेखावत् नहीं अपितु सर्पिल है और वह चेतना की धुरी से मानवता के संपर्क के सहारे चलती है। हमें घटनाओं और पात्रों में, जिनका मूल चिरंतन में है और विकास काल-विशेष में होता है, 'पुनरावृत्ति' लग सकती है। पर इसी कारण उनकी अवहेलना

नहीं होनी चाहिए, अपितु स्वागत होना चाहिए, क्योंकि वे अहं के पार होने की स्थिति के, जिसे मनुष्य प्राप्त कर चुके हैं और कर सकते हैं। अभिलेख और स्मारक हैं। ऋषि उभयचर प्राणी हैं जो पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों संसारों में एक साथ रहने के लिए स्वतंत्र हैं। स्वयं ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त कर चुकने पर, महर्षि ने स्वेच्छा से यही चुना कि कालातीत के साथ व्यापार की इस परंपरा को जारी रखा जाय और पुनर्गठित किया जाय। ऐसा लगता है कि इस सनातन परंपरा में उनकी जो स्थिति और भूमिका पहले से निर्दिष्ट थी, वह उन्होंने विनम्रतापूर्वक स्वीकार कर ली और अपने अधिकार का उपयोग उन्होंने प्राचीन ग्रंथों की आवश्यक छंटाई करने और उन्हें गहन व्यावहारिक साधना की अपनी समसामयिक योजना में कुशलता से फिट करने के लिए किया, जिससे कि सभी सच्चे साधक, चाहे वे किसी भी जाति, धर्म या वर्ग के क्यों न हों, उसका लाभ उठा सकें।

महर्षि ने 1909 में ही अरुणाचल मुदलियार की प्रार्थना पर उनके लिए साधु निश्चलदास के बृहत् हिंदी ग्रंथ, **विचार सागर** के तमिल अनुवाद का सारांश प्रस्तुत किया। (मुदलियार को तमिल अनुवाद बहुत बड़ा और दुरूह लगता था।) यह सारांश **विचार मणि मालै** (विचार मणिमाला) नाम से छपा और इसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। इस सुगठित प्रश्नोत्तरी में अद्वैत के अन्वेषण और अनुभव से संबंधित जितने भी मूल प्रश्न हैं वे सब उठाये गये हैं और बहुत ही सटीक और स्पष्ट उत्तर दिये गये हैं।

एक और भक्त के लिए, जिसे संस्कृत का ज्ञान नहीं था, महर्षि ने शंकराचार्य के **विवेक चूड़ामणि** का न केवल एक लंबा सार-संग्रह प्रस्तुत किया, अपितु उसके लिए एक भूमिका भी लिखी। यह भूमिका अपने-आप में शंकराचार्य की शिक्षा का एक उत्कृष्ट निरूपण है। महर्षि ने शंकराचार्य

के कुछ अन्य लघु ग्रंथों का भी तमिल में अनुवाद किया है, उदाहरणार्थ, **दृक् दृश्य विवेक** का गद्य में और **दक्षिणामूर्ति स्तोत्र** तथा **हस्तामलक** का पद्य में अनुवाद किया है। शंकराचार्य-रचित **आत्मबोध** के 68 श्लोकों का तमिल **वेण्बाओं** में अनुवाद उन्होंने 1948 में आरंभ और पूरा किया। यह अत्युत्कृष्ट गुटका विरूपाक्ष गुफा के दिनों से ही उन्हें बहुत प्रिय था। इसलिए तमिल पद्य में जब उसका एक शब्द—बहुल भावानुवाद उनके सामने आया, तो उन्हें प्रेरणा हुई कि इसे अधिक सुगठित और विश्वसनीय रूपगुंफि में ढाला जाय। इसके एक प्रास्ताविक **वेण्बा** में यह घोषणा की गयी है कि "आज जो तमिल में बोल रहा है वह उस आत्मा से भिन्न कोई और नहीं है जिसने कभी शंकराचार्य के रूप में आत्मज्ञान की शिक्षा दी थी।" मुमुक्षु के सच्चे संशयों को अनेक उपमाओं और तर्कों से दूर करते हुए, यह काव्य यह समझाता है कि मानव प्राणियों के लिए, जो पकाया हुआ अन्न खाते हैं और जिनके लिए अग्नि आवश्यक है, ज्ञानाग्नि ही आध्यात्मिक भूख की तुष्टि का एकमात्र सीधा और अनिवार्य साधन है। अन्य सभी साधनाओं का उद्देश्य मनुष्य को तेजी से इसी बिंदु पर ले जाना है जहां से सच्चा मानव जीवन, आनंदमयी चेतना में जीनेवाला जीवन आरंभ होता है।

आगमों में से महर्षि को अनुवाद के लिए सर्वाधिक उपयुक्त वे अंश लगे जिनमें शिव अपनी पत्नी, पार्वती तथा पुत्र, गुह को उपदेश देते हैं। यहां विषय ज्ञान-मार्ग है और शिष्य सर्वथा योग्य और अत्यंत प्रिय हैं, अतः अनुशासन के नियमों और उपासना के रूपों को, जो केवल प्रारंभिक महत्व रखते हैं। एकदम छोड़ दिया गया है :

> इस योजना में देवताओं, वेदों, यज्ञों या दान-दक्षिणा के लिए कोई स्थान नहीं है। सभी धर्मग्रंथों से हट कर आत्मबोध के विशुद्ध योग में लग जाओ···चमत्कारी सिद्धियों या गंडे-ताबीजों को, वे मिलते हों तो

भी, स्वीकार न करो। मोक्ष का वह मार्ग नहीं है। अनंत चेतना के सिवा वह (मोक्ष) और कहीं नहीं है।

गीतासार : गीता से चुने गये 42 श्लोकों का नया क्रम-विन्यास है। उस प्राचीन धर्मग्रंथ से उसका शाश्वत सार निकालने और उसे ऐसे सुविधा-जनक एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत करने में जो आज के मानव को सर्वाधिक ग्राह्य हो, महर्षि ने अद्भुत कौशल दिखाया है। विद्वानों, काव्यप्रेमियों और धार्मिक इतिहास के अध्येताओं को तो समूची गीता का ही अध्ययन करना चाहिए। परंतु सामान्य जनों के लिए इसका सर्वोत्तम उपयोग यही है कि वे शुद्ध चैतन्य के अंतर्लोक की वास्तविक आध्यात्मिक यात्रा में और सापेक्ष चेतना के बाह्य लोक में इसे अपना मार्गदर्शक और साथी बनायें। साधक व्यावहारिक लोग होते हैं जिन्हें सदा आत्म-सुधार की धुन रहती है। उनके लिए गीता के 18 अध्यायों को कंठस्थ करने और उनका पाठ करते रहने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण यह जानना है कि उसके किन-अंशों को तुरंत प्रयोग में लाया जा सकता है। इस धारणा में महर्षि रमण महात्मा गांधी से पूरी तरह सहमत हैं कि श्रीकृष्ण की शिक्षा और मैत्री ठोस और तात्कालिक वैयक्तिक कर्म का आधार होनी चाहिए। गांधीजी ने भी 1932 में यरवडा जेल में अपने पुत्र और सहव्रती—रामदास के लिए अपनी **गीता प्रवेशिका** तैयार की थी। (और यह विचित्र संयोग देखिए कि उसमें भी 42 श्लोक हैं।) महात्मा गांधी के चयन और महर्षि के चयन में ये नौ श्लोक समान हैं : छठे अध्याय का श्लोक 29, नौवें का 22, दसवें के 10, 11, ग्यारहवें का 54, बारहवें का 15, तेरहवें का 27और अठारहवें के 61, 62। ये सभी बड़े महत्वपूर्ण हैं। गांधीजी के अंतिम दस श्लोक ग्यारहवें अध्याय से लिये गये है, जिसमें अर्जुन ने भगवान का स्तुतिगान किया है। ये भक्ति और श्रद्धा को पुष्ट करने और इस बात पर बल देने

के लिए रखे गये हैं कि नारायण के प्रति भक्ति अनुभव करना और व्यक्त करना तथा नाना रूपों में उपस्थित नारायण की यहीं अभी, इसी देश और काल में सेवा करना आवश्यक है। परंतु महर्षि के **गीतासार** में जोर ज्ञान और भक्ति पर है। सामाजिक उत्तरदायित्व और प्राणियों की सेवा समुन्नत चेतना का कारण नहीं, अपितु परिणाम है। श्रीकृष्ण सार्वभौम और शाश्वत चेतना हैं, जो सापेक्ष भी है और निरपेक्ष भी। अतः कृष्ण ही यह सब हैं, सर्वत्र वे ही हैं। अर्जुन और जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

गीतासार और **गीता प्रवेशिका** यद्यपि ज्ञान, भक्ति और कर्म के तत्त्वों पर अलग-अलग ढंग से जोर देते हैं, परंतु दोनों ही गीता की समसामयिक प्रासंगिकता को प्रकाश में लाते हैं। दोनों इस पर सहमत हैं कि उसमें मौजूद आकस्मिक अतिरिक्त सामग्री की—उदाहरणार्थ, प्रकृति, मानव स्वभाव, सामाजिक संरचना और मरणोपरांत जीवन के संबंध में किसी जमाने में प्रचलित सिद्धांतों की—निर्ममता से छंटाई कर उसका कलेवर घटा देना चाहिए। दोनों का सारा जोर इस बात पर है कि सुव्यवस्थित और सुपरीक्षित जीवन की सभी परिस्थितियों और अनुभूतियों में वैयक्तिक उत्कर्ष और मानव कल्याण की प्राप्ति के लिए खोज साग्रह जारी रखी जाय। दोनों गीता को श्रद्धा और आदर से पठनीय पावन ग्रंथ या रसास्वादन-योग्य काव्य न मानकर, आध्यात्मिक प्रयास का एक व्यावहारिक पाठ्यक्रम मानते हैं—एक ऐसा ठोस और विशिष्ट साधन मानते हैं जिसमें निःस्वार्थ, कर्म अहं को भुला देनेवाले प्रेम और अहं से परे की चेतना का संगम है।

गीतासार (विशेषकर उसका तमिल रूप जिसे बड़ी कुशलता से सुप्रवाही बनाया गया है) अपने-आपमें पूर्ण एक ऐसा काव्य है जिसमें अपनी जीवंत अखंडता और पुंजीभूत शक्ति है। इसके द्रुत और प्रबल प्रवाह में गीता माता के हृदय की धड़कन, उसके सार्वभौम संदेश के अंतरतम रहस्य

को हम उच्च स्वर में साफ-साफ सुन सकते हैं। मुक्ति के सारे आनंदों और दायित्व के सभी भारों का अहं और आत्मा के बीच विनिमय, आध्यात्मिक हृदय का ईश्वर से मनुज में प्रतिरोपण यहां मानो सार्वजनिक रूप से और बड़ी बारीकी से किया गया है। यह क्रियाविधि इस मंगलाचरण से आरंभ होती है :

पार्थ के रथ में बैठ
उसका शोक जिसने
सदुपदेश से मिटाया,
वह करुणामय हमारी रक्षा करे।

कृष्ण परमात्मा है, सभी प्राणियों में विद्यमान पूर्ण पुरुष है, वह चेतना है जो जगत से ऊपर है और उसे मिथ्या ठहराती है और साथ ही उसे अपने में समेटे हुए है और शासित करती है। यहां वह करुणा के रूप में, प्रेम की शक्ति के रूप में प्रादुर्भूत और सक्रिय है, जो हमारी सत्ता को फिर से पूर्णता प्रदान कर और सत्य से हमारे अलगाव को समाप्त कर शोक को उसी तरह दूर कर देती है जैसे प्रकाश अंधेरे को दूर कर देता है।

गीतासार में हम अपने भीतर के दो 'मैं' को आमने-सामने ले आते हैं : एक 'परिचित मैं' है जो माया के इस ओर है, दूसरा 'रहस्यमय मैं' है जो माया के दोनों ओर है। यहां कथावस्तु और प्रयोजन रासलीला जैसे ही हैं। गोपियों को, जो रास (परमानंद के रस) से परिचित हैं, करुणामय को प्रत्यक्ष देखते ही प्रेम के सागर प्रभु से एकात्मता की अनुभूति होने लगती है और वे उसके आनंद में डूब जाती हैं। परंतु हम लोग (जो अर्जुन की तरह कर्म और तर्क के अभ्यस्त हैं) उतने योग्य शिष्य नहीं हैं और सामने प्रस्तुत इस एकात्मता का प्रतिरोध करते हैं। अतः ईश्वरीय करुणा को, ज्योतिर्मय के रूप में, राम की तरह कुछ कर्म करना होता है या कृष्ण की

तरह कुछ उपदेश देना होता है, वह एकमात्र आकर्षण पर निर्भर नहीं रह सकती। कृष्ण का यह मूल उपदेश ही गीतासार बन जाता है—जैसे कि, एक अन्य कथा में, शिव का उपदेश उपदेशसार बन जाता है।

सच्चा मानव जीवन निरंतर सीखना है, चेतना में विकसित होना है, ऐसा बनना है जिसकी परिणति सत् में, चित् में होती है। मन, शरीर और बाह्य जगत (क्षेत्र) को जाननेवाले क्षेत्रज्ञ को पहले अपने अंदर आनंद के रूप में खोजना और पाना है (श्लोक 2, 3 =तेरहवें के 1, 2)।[1] ज्ञाता और ज्ञात को छांटने पर मन ज्ञात की श्रेणी में आता है और उसे एक उच्चतर शक्ति के आगे, जो ज्ञाता है पर स्वयं अज्ञेय है, आत्मसमर्पण करना होता है। यह है, शुद्ध 'मैं हूं', चित्‌रूपी सत् सभी प्राणियों में आनंद के रूप में विद्यमान पुरुष। श्लोक 4 (=दसवें के 20) में, महर्षि के अनुसार, सारे आध्यात्मिक ज्ञान का सार भरा है :

मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूं
मैं सभी प्राणियों का आदि, मध्य और अंत हूं।

मैं हूं' की यह चेतना ही वह विशेष गंध है जिसका अनुसरण करते हुए हम परमपुरुष, सभी प्राणियों में विद्यमान पुरुष, तक पहुंचेंगे, भले ही हम उसे कृष्ण, बुद्ध, ईसा या आत्मा किसी भी नाम से क्यों न पुकारें।

श्लोक 5, 9 (=दूसरे के 27, 20, 24, 17 और 16) विनाशी शरीर और अविनाशी चेतना के भेद पर जोर देते हैं। अन्वेषक को जान लेना चाहिए कि वह शरीर नहीं है, अपितु चेतना है। शरीर को आखिर मरना ही है, इस सीधे-सादे तथ्य का सामना करना, इसे स्वीकार करना और

---

[1]यहां और आगे भी पहले 'गीतासार' की और फिर 'गीता' की क्रमसंख्या दी गयी है।

पार करना, चेतना के रूप में अपनी सही पहचान के लिए पहला अनिवार्य कदम है। यह करना सूर्य की ओर मुंह करना है जिससे परछाईं अपने-आप पीछे चली जायेगी। मन और जगत, देखनेवाला और सभी कुछ जो दिखायी देता है क्षेत्र है, आत्मा नहीं है। आत्मा चेतना है, जो क्षेत्र को अपने में समेटे हुए है और उससे परे है।

10 से 13 तक के चार श्लोक (=तेरहवें का 32, पंद्रहवें का 6, आठवें का 21 और पंद्रहवें का 5) चेतना की महानता, दीप्ति, व्यापकता और नित्यता की, उसकी सर्वत्र उपस्थिति और कल्पित अगम्यता की घोषणा करते हैं। वह परमावस्था भी है और सत् भी है जिसमें कि सभी जीव भागीदार हैं। वह कड़ी है जो ईश्वर और मनुष्य को जोड़ती है।

इन श्लोकों में सैद्धांतिक शिक्षा, उस सत्य का संक्षिप्त बौद्धिक वर्णन पूरा हो जाता है जिसे हमें आत्मशोधक कर्म, आत्मविभोर भक्ति और अपने अंदर व बाहर चेतना के अन्वेषण द्वारा उपलब्ध करना है। आगे के मार्ग को स्पष्ट दिखा देने और खूब अच्छी तरह आलोकित कर देने के बाद, उपदेष्टा अब हमें पतवार की याद दिलाता है। श्लोक 14 (=सोलहवें का 23), जो अतीत की संचित प्रज्ञा—शास्त्र—के बारे में है, महत्वपूर्ण और विवादास्पद है। सामाजिक वास्तविकताओं से कटकर अपने एक निजी अंर्तलोक में लौटने की चपल और खतरनाक 'वैयक्तिक क्रांति' के खिलाफ यह एक कड़ी चेतावनी है। इस संक्षिप्त और व्यावहारिक प्रशिक्षण-क्रम में केवल एक यही श्लोक ऐसा है जो नैतिकता के प्रश्न को लेता है, "जो शास्त्र को छोड़कर मनमाने ढंग से काम करता है, उसे सिद्धि, सुख, परम गति—कुछ भी प्राप्त नहीं होती।" सोलहवें अध्याय से, जिसमें दैवी संपदा और आसुरी संपदा का वर्णन है, केवल यही एक श्लोक लिया गया है। इस अध्याय से गांधीजी तक ने कोई श्लोक नहीं लिया है, क्योंकि यह विशुद्ध आध्यात्मिक है और इसीलिए आज के मनुष्य के लिए, जिसका अहं इतना

हृष्ट-पुष्ट और खाऊ हो गया है कि वह दूसरों में दानव और अपने में ईश्वर देखने को सदा तैयार रहता है, खतरनाक है। महर्षि साधक को सावधान कर देते हैं कि यदि वह आसुरी स्वभाव का होकर काम, क्रोध और लोभ का अनुसरण करेगा तो व्यक्तिगत रूप से प्रगति नहीं कर सकेगा। नरक के तिहरे द्वार – काम, क्रोध और लोभ से बचना चाहिए। शास्त्र का अर्थ है : अनुशासन, आत्मसंयम, गीता में सिखाया गया निष्काम कर्मयोग। मुक्ति की, स्वतःस्फूर्त और अनायास साधुता की चरमावस्था तक पहुँचने से पहले मनुष्य पर सूक्ष्म प्रलोभनों के, अलौकिक दृश्यों, ख्याति और प्रभुता की कामना के आक्रमण होते रहते है। सच्चे साधक में उत्तरोत्तर विनम्र होते जाने का साहस होता है। वह जानता है कि अहं का त्याग (वैयक्तिक अस्तित्व का अभाव) उसका मार्ग और लक्ष्य दोनों है।

श्लोक 15 और 16 (=तेरहवें का 27 और और ग्यारहवें का 54) कामना, दंभ और सत्ता के असुरों के इस संकट से बचने का निश्चित मार्ग दिखाते हैं। यह मार्ग है : सभी प्राणियों में जीवन और चेतना के प्रकाश को देखना, उन्हें अन्य न मानना और उनकी सेवा के लिए तत्पर रहना।

श्लोक 17 और 18 (– सत्रहवें का 3 और चौथे का 39)। मनुष्य को जब अपने में असुर दिखाई दे जाता है तो वह दूसरों में ईश्वर देखने के लिए तैयार हो जाता है। वह तब सक्रिय अभिन्नता और पूर्ण समानुभूति के साथ दूसरों से प्रेम और उनकी सेवा करने लगता है। यह ज्ञान, जो प्रेम है, सच्चा, मूर्त, जीवंत और पारस्परिक होता है। चेतना कोई ऐसा वायवीय तत्त्व नहीं जिसका वस्तुओं से, व्यवहार से कोई संबंध ही न हो। योगी जो 'आत्मशक्तिवाला मल्ल' है, ईश्वर को सभी व्यक्तियों में चेतना के रूप में व्यक्तित्व के मूल तत्त्व के रूप में देखता है। प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को देखने और उसकी सेवा करने के इस प्रयास को श्रद्धा से पुष्ट करते रहना जरूरी है, क्योंकि श्रद्धा ऐसा दृढ़ विश्वास है जो मनुष्य को उसके आधार

पर समुचित कर्म करने के लिए, उसे व्यावहारिक रूप से आजमाने के लिए तैयार करता है। यह आस्था कि ईश्वर चेतना के रूप में सभी प्राणियों में विद्यमान है और प्रेम और सेवा द्वारा हम उसे अनुभव कर सकते हैं और दृढ़ता से अपने पास रख सकते हैं, इंद्रियों की जकड़ को कम कर देती है और 'आत्म-विचार' में सहायक होती है।

श्लोक 19-21 (=दसवें के 10, 11 और पांचवें का 16) बताते हैं कि जो साधक आत्मा के साथ सुर मिलाकर 'आत्म-विचार' का अभ्यास, भक्ति और सेवा जारी रखता है, उसे प्रकाश देनेवाली भगवत् कृपा प्राप्त होती है। भगवत् कृपा से चेतना और 'दूसरों' को समझने और उनकी सेवा करने की योग्यता उत्तरोत्तर बढ़ती है। उस प्रकाश में और चेतना की इस ऊर्जा से साधक शरीर, मन और बुद्धि के सोपान-क्रम को समझ लेता है, और इस तरह मनोजात कामना के दुर्जेय शत्रु को नष्ट करने में समर्थ हो जाता है (श्लोक 22, 23=तीसरे के 42, 43)।

साधक को सत्संग से क्या लाभ होता है, यह श्लोक 24-26 (=चौथे के 37, 19 और पांचवें के 26) में समझाया गया है। ये उन ऋषियों के उदाहरण और प्रभाव की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जिनका कर्म **अकर्म** (निःस्वार्थ, निष्काम कर्म,) है और जिनसे चहुं ओर शांति प्रसारित होती है। इस तरह की सहायता प्राप्त कर साधक को विषयों में भटकते मन को नियंत्रित करना चाहिए और उसे आत्मा में संस्थित करके शांत और स्थिर हो जाना चाहिए। (श्लोक 27, 28=छठे के 25, 26)।

जिस साधक की इंद्रियां मन और बुद्धि शुद्ध चैतन्य की ओर खुली हैं और जो मोक्ष की—चेतना की पूर्ण और स्थायी स्थिति की तलाश में है, वह अब यह समझ जाता है कि यह स्थिति उसका नित्य स्वरूप है, भले ही वह काम, क्रोध और भय से धुंधली हो जाय (श्लोक 29=पांचवें का 28) सभी भूतों में आत्मा को और आत्मा में सभी भूतों को देखने के संयमित

अभ्यास द्वारा शुद्ध चैतन्य को जिसकी कि केवल एक झलक मिली है, अपने सामने बराबर स्थिर रखना है। इससे अंत में यह समझ में आ जाता है कि सभी आत्माएं एक हैं और दूसरों के दुख-सुख अपने ही हैं (श्लोक 30=छठे का 29); मनुष्य जब चेतना में और पूर्णता में रहना सीख लेता है, तो उसे अपने में आत्म-विश्वास करुणा और रक्षिका शक्ति का प्रवेश अनुभव होता है (श्लोक 31=नौवें का 22)। अब ज्ञानी और उसके ईश्वर में आपसी संबंध और शक्ति की साझेदारी स्थापित हो जाती है; वह उसे अपने अंदर भी देखता है और चारों ओर के सभी भूतों में भी देखता है। देहधारी कृष्ण तब जितना भी कुछ है उस सब के साथ एकरूप हो जाते हैं (श्लोक 32, 33=सातवें के 17, 19)।

श्लोक 34-35 (=दूसरे के 55, 71) में **स्थितप्रज्ञ** के सुप्रसिद्ध वर्णन का आरंभ और निष्कर्ष है। साथ ही ये श्लोक वह मानदंड भी देते हैं जिससे साधक की प्रगति मापी जा सकती है।

श्लोक 36-40 (=बारहवें के 15, चौदहवें के 25, तीसरे के 17, 18 और चौथे के 22) में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि ज्ञानी को कर्म से हाथ खींचने की जरूरत नहीं है, वह पूर्ण अनासक्ति के साथ संसार में कर्म कर सकता है। उसमें कर्ता की भावना न रहने से उसके लिए कर्म **अकर्म** हो जाता है।

अंतिम दो श्लोक 41 और 42 (=अठारहवें के 61, 62) निश्चयपूर्वक यह कहते हैं कि ईश्वर सभी में सक्रिय रूप से विद्यमान है और उसके प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित कर देने से परम शांति प्राप्त होती है।

जगत को अपने अंदर अनुभव करने और आत्मा को बाहर सर्वत्र अनुभव करने के इन उपायों को क्रमशः अपनाने से मोक्ष का 'मैं' और दायित्व अर्थात् धर्म, का 'मैं' परस्पर जुड़ जाते हैं, अपने और दूसरों के बीच की

दीवार गिर जाती है, वैयक्तिक कामना पर विजय प्राप्त हो जाती है, और कर्म बीज नहीं अपितु फल—किसी वर्तमान और सर्वसामान्य आवश्यकता के प्रति स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया बन जाता है। इस प्रकार का प्रेममय कर्म, जिसमें गतिशील चेतना का आनंद मिलता है, पूर्णता की ओर विकास में सहायक होता है और **अकर्म** ही हो जाता है, क्योंकि उसके पीछे कोई कर्ता नहीं होता। कृष्ण की कृपा इस प्रकार कर्त्तव्य-पालन में चेतना का आनंद भर देती है। ईश्वर के प्रति समर्पण पराधीनता के रूप में नहीं, अपितु स्वायत्तता की पूर्णता के रूप में दिखने लगता है। **गीतासार** इस प्रकार सृजनात्मक जीवन की, जिसमें सत् और भौतिक जगत एक हो जाते हैं, मुख्य कुंजी है। प्राचीन धर्म-संहिता (गीता) के पूर्ण विकसित दीप्त हृदय को यह नयी धर्म-संहिता, 'रमण महर्षि की संगृहीत रचनाएं' के बलिष्ठ शरीर में प्रतिरोपित कर देता है।

12. वार्ताएं

ए. देवराज मुदलियार की पुस्तक **डे बाई डे विद भगवान** ('भगवान' के सान्निध्य में दिने-दिने) (जिसमें मार्च, 1945 से जनवरी, 1947 तक का काल आ जाता है) और सूरि नागम्मा की पुस्तक **लैटर्स फ्राम श्री रमणाश्रमम्** (श्री रमणाश्रमम् के पत्र) में (ये पत्र नवंबर 1945 से जनवरी, 1950 तक के 50 महीनों में लिखे गये थे) बहुत-सारी ऐसी सामग्री है जिसमें महर्षि के जीवन की झांकियों के सिवा उनकी ऐसी अनेक सुंदर उक्तियां बिखरी पड़ी हैं जो उनकी शिक्षा के मर्म को उद्घाटित करती हैं। मुनगल वेंकटरामैया (रामानंद सरस्वती) द्वारा संपादित **टॉक्स** (वार्ताएं) में महर्षि के साथ हुई वार्ताओं का लेखा है और उनके वे मंतव्य और उत्तर उद्धृत हैं जो विभिन्न अभ्यागतों को मई, 1935 से मार्च, 1939 तक के काल में प्राप्त हुए थे। ये रचनाएं अनौपचारिक होते हुए भी प्रामाणित और यथातथ्य हैं तथा महर्षि के मंतव्यों के साथ-साथ उनके संदर्भ और तत्कालीन वातावरण पर भी प्रकाश डालती हैं। इन्हें पढ़ने पर उनके सहज मानवीय गुणों की सजीव अनुभूति होती है, और हम उन्हें तत्त्वज्ञान के मूल सिद्धांतों तथा तथाकथित धार्मिक अन्वेषण को असमंजस में डाल देनेवाली जटिलताओं एवं विरोधाभासों पर व्यावहारिक ज्ञान का उज्ज्वल आलोक बिखेरते पाते हैं।

जगत को ब्रह्म (चेतना) से अलग या स्वतंत्र माना जाय तो यह **असत्**, अर्थात् असत्य है। परंतु, जीवात्मा और ईश्वर के साथ-साथ, उसे भी ब्रह्म

की अभिव्यक्ति मानना काफी सच है। अपनी वास्तविकता उसे चेतना से प्राप्त होती है जो सत्ता का एक मात्र आधार है। चेतना, स्वर्ण या पाषाण की तरह, उपादान-द्रव्य है; जीवात्मा, ईश्वर और जगत्, आभूषणों और मूर्तियों की तरह, रूप हैं। ऋषि, अन्य लोगों की तरह, जगत् को देखता है, उसमें रहता है और चलता-फिरता है। परंतु वह उसे आत्म से पृथक् नहीं देखता। "धर्मग्रंथ जब यह करते हैं कि जगत् अनित्य है, तो उनका आशय केवल हमें इस मिथ्या धारणा से मुक्त करना होता है कि वह नित्य है। ज्यादा अच्छा तो यह होगा कि जगत् को अनित्य कहने की बजाय यह कहा जाय की चेतना के रूप में हम नित्य है।"

चेतना को जब वे पूर्ण सत्य बताते हैं और दृश्य जगत तथा हमारे अनुभूत जीवन को केवल सापेक्ष सत्य स्वीकार करते है, तो उनका उद्देश्य कर्म के हमारे उत्साह को भग करना नहीं होता, बल्कि अपने को कर्त्ता मानने की हमारी धारणा को और उन स्वार्थपूर्ण कामनाओं को कमजोर करना होता है जो हमें अप्रबुद्ध कर्म के लिए प्रेरित करती हैं।

"शंकराचार्य ने **अकर्म** की सलाह दी। परंतु क्या उन्होंने भाष्य नहीं लिखे, देश-भर की यात्रा नहीं की, शास्त्रार्थों में भाग नहीं लिया ? कर्म मनुष्य को नहीं बांधता; बांधनेवाली यह मिथ्या धारणा है कि 'मैं' कर्त्ता हू। **अकर्म** सतत क्रियाशीलता है। ऋषि तीव्र क्रियाशीलता की स्थिति में रहता है। तेजी से घूमते लट्टू की तरह, वह केवल देखने में ही निश्चल प्रतीत होता है। वह निष्क्रिय नहीं होता, अपितु उसकी क्रियाशीलता सबसे तीव्र होती है।"

चेतना के साथ अधिकाधिक तादात्म्य चिंतन का नही, अनुभव का विषय है। "शरीर के साथ तादात्म्य द्वैत है। चेतना के साथ तादात्म्य अद्वैत है।" परंतु यह भेद केवल सैद्धांतिक है। जैसा कि नम्मालवार कहते हैं: "अज्ञान में मैं अहं को 'मैं' 'समझता रहा। सही ज्ञान होने पर अह कहीं

है ही नहीं, एक तुम ही हो—सदा, सर्वत्र आत्मा के रूप में।"

भले ही हम चाहें या न चाहें, जानें या न जानें, पर हम सभी अपने चित्‌रूप शुद्ध सत्‌ में अद्वैतवादी हैं और विचार, वाणी और कर्म में द्वैत-वादी हैं। हमारे जीवन के इन दोनों पक्षों को स्पष्ट करने के लिए महर्षि प्रायः चलचित्र की उपमा देते हैं, जो नाटक की पुरानी उपमा से अधिक सटीक है। "आत्मा पर्दा है, फेंकी जानेवाली फिल्म है, दर्शक है, यंत्रचालक है, प्रकाश है और अन्य सब कुछ है। मन उस प्रकाश से चमकता है जो आत्मा से प्रतिबिंबित होता है। चित्र तेज चकाचौंध में दिखायी नहीं पड़ते और पूर्ण अंधकार में भी दिखायी नहीं पड़ते। इसी तरह विश्व-चित्र भी केवल **अविद्या** (अज्ञान) के अंधकार के बीच आत्मा के प्रतिबिंबित प्रकाश में ही दिखाई पड़ता है। जगत मात्र अज्ञान में (जैसे कि निद्रा में) दिखायी नहीं देता और मात्र प्रकाश में भी (जैसे कि आत्मोपलब्धि की अवस्था में जब मन 'हृदय' में लीन हो जाता है) दिखाई नहीं देता। **अविद्या** विविधता का कारण है। देखनेवाली आकृति और अभिनय करनेवाली आकृतियों में, विषयी और विषयों में एक ही तरह की वास्तविकता है। एक मायिक सत्ता एक मायिक जगत्‌ को देखती है।

"**सत्व** प्रकाश है, **रजस** विषयी है, **तमस** विषय है। मन का आकाश ही भौतिक आकाश के रूप में प्रतिबिंबित होता है और विषय विषयी से भिन्न सत्ताओं के रूप में दिखायी देते हैं।

व्यवहार-दशा (व्यावहारिक जीवन) में भी **समाधि** (मूल चेतना) होती है। चित्र जब पर्दे पर प्रक्षिप्त होते है और जब प्रक्षिप्त नहीं होते, पर्दा दोनों अवस्थाओं में होता है। **व्यवहार** (व्यावहारिक जीवन) में भी और **शांति** (शुद्ध सत्‌ की नीरवता) में भी आत्मा सदा विद्यमान है। चलचित्र का पर्दा अपने को देख नहीं सकता, इसलिए उसे द्रष्टा की जरूरत है। परंतु यहां द्रष्टा पूर्ण चेतना है जो स्वयं पर्दा है, प्रकाश है,

दर्शक है और चित्र में दिखनेवाले पात्र हैं।"

चित्‌रूपी सत्‌ का अनुभव, जहां जगत हमारे अंदर होता है, हम जगत के अंदर नहीं होते, स्वप्न में होता है और काव्यरूपी स्वप्न में—जो सामान्य स्वप्न से इस बात में विशेष है कि उसका उपभोग अन्य लोग भी कर सकते हैं—तथा सौंदर्य के रसास्वादन में होता है। मनुष्य को यह अनुभूत जगत सामूहिक और वैयक्तिक सत्याभास नहीं अपितु सत्य लगता है, इसका कारण यह है कि वह स्वयं को शरीर से जुड़े अहं तक ही सीमित कर देता है। साथ, ही वह इस स्वत स्फूर्त जीवन-लीला में दर्शक अभिनेता के नाते, आलस्यवश, अन्य अभिनेताओं को समझने की तो कोशिश करता नहीं और लीला की कथावस्तु को बदलने के लिए उतावला रहता है।

महर्षि ने कभी भी न तो महर्षि होने का दावा किया और न किसी को अपना शिष्य ही समझा। उपदेश देने की उनसे जब भी प्रार्थना की गयी, उन्होंने अस्वीकार कर दी। उनका कहना था: "यदि मैं ज्ञानी हूं, तो कोई भी मुझसे अलग नहीं है जिसे मैं उपदेश दूं। यदि मैं साधारण मनुष्य हूं, तो मैं उतना ही अज्ञानी हूं जितने कि और सब लोग हैं।"

मध्यस्थ की भूमिका स्वीकार न करते हुए भी उन्होंने हमें, मां, प्रेमी या बच्चे की तरह, पूर्ण जीवन जीने की कला सिखायी। उनका कहना है कि ऋषि की स्थिति बच्चे की तरह होती है। ऋषि और बच्चा दोनों में अहं नहीं होता और दोनों, स्मृतियों के भार तथा कामनाओं की भटकन से मुक्त, वर्तमान में सुख से जीते हैं। बच्चे का अहं संभावी है, उसका विकास अभी होना है, जबकि ऋषि का अहं छूट गया है। अत: ऋषि में अज्ञान का नहीं, ज्ञान का भोलापन होता है। वह अंशों में समग्र को देखता है और इसीलिए पूर्ण जीवन जीने की कला सिखा सकता है, जैसे कि मां पढ़ने की कला सिखाती है। होशियार नन्हा बच्चा छपे पृष्ठ पर दृष्टि जमाकर एक

के बाद दूसरे अक्षर को गर्व के साथ ज़ोर-ज़ोर से पढ़ता है। लेकिन मां, जो एक नजर में अर्थ को ग्रहण कर लेती है, अक्षरों को नहीं 'देखती'। फिर भी, वह बच्चे के साथ और उसकी खातिर उनको देखती है। ऋषि द्वैत से पैदा होनेवाली दुविधाओं और कठिनाइयों में से गुज़र चुकता है और उसमें मां की-सी सहनशीलता और समझ होती है। इस प्रकार की शिक्षा मात्र बौद्धिक नहीं होती, अपितु समग्र का ज्ञान करानेवाली और अन्वेषण की ओर प्रेरित करनेवाली होती है। वह एक ऐसी जटिल वास्तविकता का पूर्ण उद्बोधन होती है जिसका विश्लेषण कठिन है, पर अनुकरण, प्रयोग और सुधार हो सकता है। शिष्य, बच्चे की तरह, अनजाने ही सीखता और अपने को सुरक्षित अनुभव करता है, यद्यपि वह यह नहीं जानता कि यह कैसे होता है। आध्यात्मिक विकास, मिट्टी में बीज के विकास की तरह, अंधकार में और साथ ही सूर्य के प्रकाश में घटित होता है। बार-बार आत्म-अनावरण हानिकारक है, क्योंकि उससे अहं के लिए चिंता केवल और बढ़ती है।

"पुनर्जन्म, पुनः पूर्ण होना, फिर से बच्चा बन जाना है।" ज्ञान, बहुत गहरे स्तर पर, अहंरहित पूर्णता की प्रारंभिक अवस्था की फिर से प्राप्ति है। व्यवहार की यह निश्छलता, जिसकी जड़ें अस्तित्व की समग्रता से होती हैं, अक्षर-ज्ञान से पहले की स्थिति में हो सकती हैं, जैसे कि बच्चे में होती है। या विज्ञानोत्तर स्थिति में हो सकती है, जैसे कि ऋषि में होती है। हर हालत में वह आसानी से शब्दों में व्यक्त नहीं होती। उसे केवल मौन, उपयुक्त सेवा या पुराण-कथाओं और प्रतीकों द्वारा संप्रेषित किया जा सकता है। महर्षि के लिए व्यावहारिक जगत वास्तविक की बजाय धारणाश्रित ही अधिक था। फिर भी उन्होंने शिव और विष्णु के ऊर्जस्वी नामों और आख्यानों का उपयोग खुल कर किया। वे जानते थे कि वे पुराण-कथाएं और प्रतीक हैं, पर केवल इसी कारण उपेक्षणीय या त्याज्य

नहीं माने जा सकते। अन्य हिंदुओं की तरह, वे संसार को काव्य के चक्षु और व्यावहारिकता के चक्षु—दोनों से देखते थे।

'शिव और विष्णु उनके धाम, कैलाश और वैकुंठ उतने ही वास्तविक हैं, जितने कि हमारे शरीर और यह जगत जिसमें कि हम रहते हैं। उनका अस्तित्व हमारे अंदर है; और इस दृश्य जगत का अस्तित्व भी हमारे अंदर ही है। आकाश तुम्हारे अंदर है। शरीर आकाश के अंदर है। तुम आकाश के अंदर नहीं हो।"

"काशी की पावनता तथ्य और आस्था, दोनों है।"

"असली गंगा तुम्हारे अंदर है, उसमें स्नान करो।"

"अरुणाचल की शक्ति नकारी नहीं जा सकती। पर अरुणाचल भीतर है, बाहर नहीं।"

"इस पर्वत का रहस्य आत्मा का रहस्य है।" शिव प्रतीक हैं आनंद के, मांगल्य के, इंद्रियातीत सत् के, शुद्ध निरपेक्ष चैतन्य के। "चारों महान शैव संत गायकों ने, अपने पहले पदों में ही, एक ही अनुभूति बहुत-कुछ एक-से शब्दों में व्यक्त की है, अर्थात् (1) अनन्य भाव से आराधना; (2) निरंतर स्मरण; (3) निर्विचारता; (4) केवल आत्मा का अस्तित्व है, अहं का नहीं।" इंद्रियातीत ईश्वर या साकार ब्रह्म के साथ सत्-चित् की यह अभिन्नता ही **उल्लदु नार्पदु** के पहले दो पदों में घोषित की गयी है।

महर्षि की शिक्षा सदैव व्यावहारिक, व्यक्तिपरक और सीधी होती थी। सच्ची लगनवाले सभी साधकों को, चाहे उनकी जाति, सामाजिक स्थिति या पूर्व-तैयारी कैसी भी हो, वे 'आत्म-विचार' की पद्धति को तुरंत अपनाने की सलाह देते थे। वह पद्धति कोई बौद्धिक अभ्यास नहीं थी, अपितु कर्म (दूसरों के लिए कर्म) और ज्ञान (अपने पर कर्म) का संगम थी, जिनमें दूसरा मुख्य प्रयास और पहला उसका सहायक संयम था।

लोग प्रायः उनसे आत्मज्ञान की उस स्थिति के बारे में पूछते थे जो

बुद्ध, ईसा, शंकराचार्य या रामकृष्ण परमहंस ने प्राप्त कर ली थी। उनका संक्षिप्त उत्तर आम तौर पर यह होता था, "दूसरों की चिंता क्यों करते हो, तुम अपने 'आत्म' को पहचानो।" ईश्वर के बारे में कौतूहल को वे निरुत्साहित करते थे। वे कहते थे, "ईश्वर को उसके हाल पर छोड़ो। अपने बारे में सोचो। मोक्ष की बात छोड़ो। क्या बंधन का अस्तित्व है ? क्या तुम बंधन में हो ? जो बंधन में है वह कौन है ?"

"सभी मनुष्य आत्मज्ञानी हैं। हर कोई पहले से ही आत्मज्ञानी है और सदा आत्मज्ञानी है। मनुष्य अपने को बंधन में इसलिए मानता है क्योंकि वह शरीर को ही आत्मा समझता है, जबकि आत्मा अनंत है, शुद्ध चैतन्य है। जिसे हम आत्मज्ञान कहते हैं वह इस मिथ्या धारणा से मुक्त होना है कि मैं आत्मज्ञानी नहीं हूं। आत्मज्ञान कोई ऐसी चीज नहीं है जो नयी प्राप्त हुई है। वह मात्र अज्ञान का, अविद्या का नाश है। अविद्या पृथक्ता की भावना है जो मिथ्या है, क्योंकि हम सब एक ही चैतन्य हैं। आत्मा केवल एक है। वह जब सीमित है, तो अहं है; जब असीमित है, तो अनंत आत्मा है, एक मात्र सत्य है। अहं, पानी के बुलबुलों की तरह, अलग-अलग हैं और असंख्य हैं। आत्मा, सागर की तरह, केवल एक है। सत्य के साथ अपनी अभिन्नता को स्वीकार करो; बुलबुला नहीं, जल बनो। अंदर गोता लगाओ।"

यह अंदर गोता लगाना ही 'आत्म-विचार' है, व्यावहारिक 'मैं' को खोजना और उसे गायब होते देखना है। अहं की स्थिति उस व्यक्ति की तरह है जिसे गलती मे 'दूल्हे का मित्र' समझ लिया गया था। अहं का संबंध न शरीर से है और न आत्मा से। उसकी पहचान की, उसके मूल स्रोतों और संबंधों को सच्ची लगन से छानबीन करने पर वह लुप्त हो जाता है। "अहं कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, छानबीन करने पर वह लुप्त हो जायेगा। तब सत्य स्वयं दमकेगा।"

यह पद्धति सीधी है। अन्य पद्धतियां 'मन की शुद्धि के लिए' उपयोगी हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। वे परोक्ष और प्रारंम्भिक हैं। अन्य पद्धतियों (कर्म, योग और भक्ति) में साधक का अपना व्यक्तित्व कायम रहता है, और जो अनिवार्य व अंतिम प्रश्न है वह अनिश्चित काल के लिए स्थगित रह जाता है। इस सीधी पद्धति में अंतिम प्रश्न ही एक मात्र प्रश्न होता है और वह आरंभ में ही सामने आ जाता है। यह खोज समग्र का ज्ञान करानेवाली और साथ ही अन्वेषण की ओर प्रेरित करनेवाली है, ज्ञान और कर्म का मिश्रण है, इसलिए इसमें न तो किसी तैयारी की जरूरत है और न अंतिम प्रश्न स्थगित किया जा सकता है। "अहं को मारना ही एक काम है जो करना है। अहं को नष्ट करना है, यह सब स्वीकार करते हैं। इस स्वीकृत मुद्दे पर हमें इसी क्षण काम शुरू कर देना चाहिए।"

महर्षि की पद्धति मात्र 'ध्यान' नहीं है। यह सच्ची निष्ठा और परिश्रम से की जाने वाली ऐसी खोज है जिसका लक्ष्य 'सत्' और भौतिक सत्ता, चेतना और कर्म, दोनों रूपों में अपने को पहचानना है। "ज्ञान हमारी स्वाभाविक स्थिति है। 'ध्यान' कर्तृतंत्र, अर्थात् कर्ता का कर्म है। ज्ञान वस्तुतंत्र अर्थात् सत्वस्तु का, जो है उसका कर्म है।" दिव्य चेतना को उपर से नीचे लाने' की बात को वे स्वीकार करते हैं। वे पूछते हैं, "दिव्य चेतना क्या पहले से ही हृदय में नहीं है ? श्री कृष्ण कहते हैं : 'वह हृदय के आकाश में है।' उपनिषद् कहता है : 'जो सूर्य में है वह इस मनुष्य में भी है।' ईसा कहते हैं : 'स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अंदर है।' सब मानते हैं कि सत्य अंदर है। कौन किसे, कहां से और कैसे लायेगा ? आकाश या धूप को तुम कमरे में नहीं लाते। तुम केवल काठ-कबाड़ हटा देते हो या खिड़की खोल देते हो।"

आत्मा कभी भी बंधन में नहीं है और उसे मुक्ति की आवश्यकता नहीं है। सारी मुसीबत की जड़ शरीर से बंधा अहं है जो तमाम कठिनाइयां

पैदा करता है और फिर मुक्ति के लिए छटपटाता है। परंतु पृथक्ता की यह भावना एक भ्रम है। इसलिए प्राप्त आत्मज्ञान नहीं करना है, बल्कि हम शरीर हैं अपनी इस गलती को समझना है। गलती का पता चलने या अंधकार के दूर होने की प्रक्रिया में समय नहीं लगता। एक भक्त की इस शिकायत पर कि ज्ञान प्राप्त करने में वर्षों लग जायेंगे, उन्होंने जवाब दिया था, "वर्षों क्यों ? समय का भाव केवल तुम्हारे मन में है। आत्मा में तो कोई समय है नहीं। समय एक भाव है जो अहं की उत्पत्ति के बाद उत्पन्न होता है। तुम आत्मा हो, जो देश और काल से परे हैं।"

आत्मोपलब्धि का अर्थ केवल अनात्म को जाने देना है। "नाड़ियों, कुंडलिनियों और षट्चक्रों के फेर में मत पड़ो। दर्शन का जटिल जंजाल बात को स्पष्ट करने की बजाय और अपार उलझाव पैदा कर देता है। आत्मा स्पष्ट है और सदा विद्यमान है। आत्मा के रूप में क्यों नहीं रहते ? अनात्म की सफाई क्यों देते हो ?" खुद धर्म को वे 'छलना की एक महा-क्रीड़ा' कहते हैं। "सभी धर्मों का उद्देश्य हमें सत्-चित्-आनंद की हमारी मूल स्थिति पर वापस ले जाना है। इस सीधे-सादे सत्य की सीख देने के लिए इतने सारे संप्रदाय, ग्रंथ, पंथ और तरीके बन गये हैं, केवल इसलिए कि लोग जटिलता चाहते हैं। विस्तृत और उलझाव-भरी चीजें चाहते हैं, जिनसे वाद-विवाद खड़े हो जाते हैं। स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अंदर है, तुम्हारे हाथ में है, बिलकुल तुम्हारे बीच में है। यह सीधा-सादा है। परंतु केवल परिपक्व मन ही इसे इसके शुद्ध रूप में ग्रहण कर सकता है। आत्मा के रूप में रहने और व्यवहार करने और एक नया जीवन आरंभ करने की बजाय, लोग स्वर्ग, नरक, अवतार और अन्य रहस्यों के बारे में सब कुछ जानना चाहते हैं, और तथाकथित धर्म उनकी इस इच्छा को अनुचित प्रश्रय देते हैं। इन सब भटकावों के बाद तुम्हें केवल आत्मा पर ही वापस आना होगा। तो फिर यहीं, अभी से आत्मा में क्यों नहीं रहते ?

इस सब शब्दाडंबर को छोड़ो और जो हो वैसे रहो। समझो कि तुम कौन हो और आत्मा के रूप में, चेतना के रूप में, जन्म, आवागमन और पुनरागमन से मुक्त होकर रहो। इस भ्रामक अविद्या को दूर करने के लिए इतने प्रयासों और नियम-संयम की क्या जरूरत है ?"

पूर्ण अंतर्मुखता और इंद्रियातीत चेतना के लिए, सत्य के दोनों प्रकारों की तत्काल स्वीकृति के लिए इस तरह का आकस्मिक आह्वान निश्चय ही उन लोगों को घबरा देता है जो विद्वान होते हुए भी मन से आलसी हैं। इसलिए कुछ विद्वानों को यह शिकायत है कि उनकी शिक्षा अत्यधिक सीधी है, उनका 'तकनीक' देखने में सरल लगते हुए भी अत्यधिक कठिन है, उनका रास्ता छोटा पर बिलकुल खड़ी चढ़ाई वाला है जिसमें प्रस्थान-स्थल और अंतिम लक्ष्य के बीच कहीं भी पैड़ियां नहीं हैं। परंतु महर्षि, द **इन्फिनिट वे** (अनंत मार्ग) के लेखक जोअल गोल्डस्मिथ की तरह **सद्योमुक्ति** तत्काल मोक्ष, के सत्य की घोषणा करते हैं और 'आत्मा को जानने' के मिथ्या द्वैत को सहने को तैयार नहीं हैं। इसकी बजाय, वे आत्मा के रूप में रहने और व्यवहार करने की शिक्षा देते हैं, अर्थात् जब जैसी जरूरत हो, वैयक्तिक, सापेक्ष, सामूहिक अथवा पूर्ण चेतना के रूप में रहो। उनके अनुसार, शरीर के रूप में नहीं, अपितु चेतना के रूप में इस तरह रहना और व्यवहार करना ही वास्तव में मानव होने का एक मात्र रास्ता है और मानव होने का प्रश्न ऐसा है जो स्थगित नहीं किया जा सकता, भले ही उसके अंतर्गत दिव्य होना, यदा-कदा कैवल्य के आनंद का रसास्वाद करना और कभी-कभी रोमांस के वीरनायकों की तरह कार्य करना तक क्यों न आता हो। वस्तुतः, वीरता के रास्ते दिव्यता तक विकास हमारी अनिवार्य नियति है, जिससे हम असुर, दूसरों से लड़ते रहनेवाले राक्षस, बनकर ही बच सकते है। हमारे अंदर जो अमर आत्मा है हम उसी से जुड़े हैं। हम उससे मुक्त नहीं हो सकते, अलग नहीं हो सकते और अंत में यही

देखते हैं कि वही एकमात्र सत्य है। व्यावहारिक भाषा में, इस शिक्षा का अर्थ चाकू को पूर्णता के गोल दस्ते से पकड़ना है, हर परिस्थिति में व्यक्तियों के साथ अपने व्यवहार में चेतना को प्रयुक्त करना है और विचारों, संस्थाओं और अन्य निर्जीव पदार्थों की निर्भयता से चीर-फाड़ करनी है।

सामान्य जन सत् की इस तरह की पूर्णता में 'जीना' यहीं और अभी शुरू कर सकें, इसके लिए महर्षि 'मैं कौन हूं ?' का मूल प्रश्न देते हैं। साधक से कहा जाता है कि इस प्रश्न को बीज की तरह अपने हृदय में बो दो, प्राप्त स्थिति में जमे रहो, स्वधर्म से चिपके रहो और अपने उत्तरों को, शब्दों के रूप में नहीं, अपितु चेतना के मूक आनंद तथा धर्म के पत्तों, पुष्पों और फलों के रूप में उपजाओ। इस नित्य-नूतन मार्मिक प्रश्न से, जो मन को उत्तरोत्तर निर्मल और लचकीला करता है, महर्षि ज्ञान की प्राचीन परंपरा को आज की दुनिया में और बीच बाजार में ले आते हैं। वे इस पर जोर देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने तथा लघु संसार के भाविष्य के लिए सारे अस्तित्वगत दायित्व को ग्रहण करता हुआ, अतीत की चिंता न कर वर्तमान में पूर्ण सचेत रह सकता है और सुख व कल्याण के राज्य का विस्तार कर सकता है। 'मैं कौन हूं ?' के कुठार को पृथक् अहं की जड़ पर रख कर और कर्म का चेतना में मूल्यांकन कर, वे धर्माधर्म-विचारणा के घने जंगल और 'व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और कर्त्तव्यों' की जटिल नैतिकता को एक ही चोट में साफ कर देते है, और 'भगवत्कृपा' के प्रकाश को भीतर आने देते हैं, जिससे व्यक्ति अपने पर ज्यादा-से-ज्यादा दायित्व लेता है और दूसरों को ज्यादा-से-ज्यादा स्वतंत्रता देता है।

एक ऐसी दुनिया में जहां वस्तुएं मानव जाति पर सवार है और उसे हांक रही हैं वे मनुष्य को फिर से ईश्वरीय शासन की स्वायत्तता देते है। वे उसे स्वरूप में रहने और सृजनात्मक चेतना तथा स्वतःस्फूर्त कर्म के सजीव केंद्र की तरह, एक मान्य समुदाय के सम्मानित सदस्य की तरह, व्यवहार

करने का नैतिक साहस देते हैं। वे स्पष्ट घोषणा करते हैं, "जिस व्यक्ति को हृदय में रहनेवाले 'मैं' का स्मरण है, उसे सही और गलत के सवालों की चिंता नहीं रहती। उसके काम ईश्वर के काम होते हैं और इसीलिए हमेशा सही होते हैं।" यदि सदसद्-विवेक और विचार की अस्पष्टता हमें कायर बनाये, तो हम अपने भीतर के 'मैं' को स्मरण कर और उस समय जो आवश्यक है उसके लिए स्वाभाविक रूप से कर्म कर पुरुषोचित बल प्राप्त कर सकते हैं। इस तरह का कर्म किसी को बांधता नहीं और वह अकर्म ही होता है। "अंतर्मुखी व्यक्ति को शास्त्र के प्रमाण की जरूरत नहीं है। आत्मा ग्रंथों में नहीं है। वह हमारे अंदर है।"

'आत्म-विचार' की इस साधना में भक्ति, योग, बौद्धिक चर्चा आदि सभी पद्धतियां समाविष्ट हैं। परंतु ज्ञानोदय के लिए पहले वासनाओं को मिटाना आवश्यक है। "सत्य के लिए हर चीज का त्याग करने को तैयार रहना चाहिए। त्याग का स्तर ही व्यक्ति की प्रगति का मापदंड है। वासनाएं उनके आगे झुकने से क्षीण नहीं होतीं, जैसे कि आग घी डालने से बुझती नहीं है। संयम आवश्यक है और ज्ञान से उसे बल मिलता है। यह जान लो कि तुम मन नहीं हो और इच्छाएं मन में हैं। यह जान लेने से उन्हें नियंत्रित करने में सहायता मिलती है। इच्छा के आगे न झुकने की बार-बार कोशिश से, इच्छाएं कालांतर में कमजोर पड़ जाती हैं। यह कदापि मत भूलो कि तुम्हारा सच्चा स्वरूप शुद्ध चैतन्य है।"

दूसरों की भलाई या किसी अव्यक्तिगत ध्येय के लिए किये गये निःस्वार्थ कार्य से दृष्टिकोण उदार, मन निर्मल और अहं दुर्बल होता है। स्वराज्य के काम में व्यक्ति देश की सेवा में लीन हो गया था। निष्काम कर्म 'आत्म-विचार' में सहायक होता है। गांधीजी में आध्यात्मिक शक्ति काम कर रही है और वही उन्हें आगे बढ़ा रही है, महर्षि ने यह समझ लिया था और लोगों को वे यह सलाह देते थे कि उन्हें अपने में निःस्वार्थता

और सर्वोच्च शक्ति के आगे समर्पण की ऐसी ही भावना विकसित करनी चाहिए। उपासना के साथ कर्म खूब अच्छी तरह चल सकता है। "गोपियां नाचते-गाते हुए और दही बिलोते हुए कृष्ण के ही बारे में सोचती थीं। भक्ति और कर्म यहां किस तरह एक ही योग बन जाते हैं, यह द्रष्टव्य है।" भक्ति आत्मसमर्पण की ओर ले जाती है, फिर वह भक्ति चाहे "किसी विचार के प्रति हो, भगवान के किसी रूप के प्रति हो, सद्‌गुरु के प्रति हो, मानव जाति के प्रति हो, या सौंदर्य या न्याय की भावना के प्रति हो।"

ज्ञान के बौद्धिक मार्ग और भक्ति के भावनात्मक मार्ग, दोनों का लक्ष्य एक ही है। दोनों स्थितियों में 'मैं' की कोई पृथक् सत्ता नहीं रह जाती। भक्ति में पहले 'मेरा' गायब होता है, ज्ञान में पहले 'मैं'। परंतु ज्ञान-मार्ग में आरंभ में बौद्धिक प्रयास अनिवार्य है और साधक को उसे करने और जारी रखने के लिए तैयार रहना चाहिए। यहां अपने सामने आदर्श बिल्ली के बच्चे का नहीं, बंदरिया के बच्चे का रखना चाहिए। चिपके रहना सीखना चाहिए, कोई हमें ले जायेगा यह अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। ईश्वर और गुरु सहायक हो सकते हैं, पर काम वे नहीं करते। "चश्मा क्या तुम्हारी जगह सूर्य को देख सकता है ?"

कहां से शुरू करूं इस सोच में समय नष्ट करने और किसी गुरु या सत्संग के अवसर को बाट देखने की बजाय, कहीं से भी और अभी शुरू कर दो। "जीवों में जो आत्मा है वह सत् है। साधु भी वही है इसलिए कोई भी सत्संग से, साधु की संगत से दूर नहीं है। गुरु बाहर नहीं है। साधक को उपासना, भक्ति और ध्यान में अटके नहीं रहना चाहिए। उसे यह प्रश्न पूछना चाहिए कि 'मैं कौन हूं ?' और साधना शुरू कर देनी चाहिए।"

चेतना ही क्योंकि एक मात्र सत्य है, इसलिए न केवल संपूर्ण समाज के साथ व्यक्ति का जीवन, अपितु, मनुष्य और प्रकृति की सत्ता भी सतत और अखंड है। "पेड़ अचल मनुष्य है, मनुष्य चलता-फिरता पेड़ है। वनस्पतियां

सदा सुषुप्ति की अवस्था में हैं; जीव-जंतु स्वप्न और सुषुप्ति, दोनों की; देवता सदा जागते हैं। मनुष्य में ये तीनों अवस्थाएं है। योगी **तुरीयावस्था** में रहता है जो इन सब से परे है। केवल मनुष्य ही देशकालातीत सर्वोच्च चेतना को प्राप्त कर सकता है। अन्य तीनों अवस्थाएं एकांतिक है, परतु वास्तविक चेतना में वे सब समाविष्ट हैं।"

चिंतन और कर्म अस्थायी हैं; वे सत् के सागर में बुलबुलों या लहरों की तरह हैं। समाधि मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था है, वह अंतःधारा है जो जाग्रत, सुषुप्ति और स्वप्न, तीनों की तह में बहती है। वह प्रयास से प्राप्त होनेवाली अनायास स्थिति है, वह अहंरहित निद्रावस्था है जिसका आनंद जागते हुए मिलता है। वह,अनुभव के समय भी और स्मरण के समय भी, गहरे और स्पष्ट आनंद की स्थिति है। उसमें चेतना विषयहीन होती है, विचारों का अभाव होता है। 'हरिजन' में गांधी जी के एक वक्तव्य के सिल-सिले में, महर्षि ने कहा था, 'सामान्य जन के लिए विचारों से छूटना जितना कठिन है, ज्ञानी के लिए विचारों मे जुटना उतना ही कठिन है।" महर्षि और महात्मा गांधी दोनों, अलग-अलग स्तरों पर, यही दिखाते हैं कि विचार, वाणी या कर्म नहीं, अपितु सत्-चित् की अनुभूति का अगूढ़ रहस्यवाद ही मानव जीवन का सार है।

वास्तविक चेतना—**स्फुरण**—एकता, अखंडता, आनंद की नित्यनूतन अनुभूति है। वह तर्क या विचार का नहीं अनुभव का विषय है। विचार जब रुक जाते हैं, तो 'मैं हूं' का स्फुरण हठात् उठता है और विचारमुक्त चेतना के रूप में जारी रहता है। ऐसा देखना जिसमें देखनेवाला और जिसे देखा जा रहा है दोनों लुप्त हो जाते हैं, एक आम अनुभूति है जिससे प्रेमी, माताएं,बच्चे, भावोन्मत्त भक्त, संघर्षरत वीर और काव्य व संगीत के प्रेमी परिचित हैं। परंतु इस तरह के स्वर्णिम क्षणों को (निद्रा और स्वप्न की अपनी अवस्थाओं की तरह) हम न तो समझते हैं, न संजोते हैं। केवल

अस्तित्व की अपना स्थितियों को यदि हम ध्यान से देखना, अपने उच्चतम अनुभवों पर देर तक रहना सीख लें—जहां सुखद अखंडता में विषयी और विषय मिलाकर एक हो जाते हैं, जहां हम न अन्य को देखते हैं न अन्य को सुनते हैं, जहां हम आत्मा, भूमा, अस्तित्व के आधार को छू लेते हैं—तो बचपन के अखंड आनंद को हम कभी भी खोयें नहीं।

मनुष्य. पूर्णता, अनंतता, स्थायी सुख के लिए लालायित है, क्योंकि वह उसका वास्तविक स्वरूप है, सच्चा आत्म है। उसे बाहर खोजते-खोजते जब वह थक जाता है तो अंदर की ओर मुड़ता है और उसे भीतर पाता है। यह अंतर्मुख होना और भीतर खोजना बौद्धिक कार्य है। "लंबे और लगातार अभ्यास के बाद बुद्धि को पता चलता है कि कोई उच्चतर शक्ति उसे कार्य करने के योग्य बनाती है। वह तब अपने को उस उच्चतर शक्ति को समर्पित कर देती है, और फिर बस वही अकेली रहती है। बुद्धि का प्रयोजन यह समझना है कि वह एक उच्चतर शक्ति पर निर्भर है। लक्ष्य तक पहुंचने से पहले उसे अपने को मिटाना होगा।" इसीलिए महर्षि कहते हैं, बुद्धि से इस सचाई को समझना चाहिए कि "सत्-चित् ही एक मात्र सत्य है। इसमें दृढ़ आस्था रखते हुए खोज जारी रखनी चाहिए और प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना चाहिए।" परंतु यह याद रखना चाहिए कि बौद्धिक विश्वास एक चीज है और उपलब्धि दूसरी चीज है।

अनायासना की स्थिति पर पहुंचने से पहले बहुत प्रयास करना होता है, और वह प्रयास महर्षि के अनुसार 'आत्म-विचार' और महात्मा गांधी के अनुसार सेवा है। भेद केवल मार्ग का और बल का है। किसी भी तरीके के अभ्यास से साधक को चेतना का आनंद और सेवा की मधुरता मिलती है, व्यक्तियों और घटनाओं में पहले से अधिक अनुकूलता मिलती है, और इस बात का और भी सबल आश्वासन मिलता है कि वह किसी उच्चतर शक्ति की रक्षा में है। "प्रतिदिन का जीवन भी साधना का अंग है। आध्या-

त्मिक और लौकिक दो भिन्न क्षेत्र नहीं है। उन्हें भिन्न समझना एक बड़ी भूल है, जिससे सारी कठिनाई पैदा होती हैं।"

एक साधु से, जो 'ध्यान' के अभ्यास के लिए किसी गुफा में चले जाना चाहते थे, महर्षि ने कहा था : "ऐसे संन्यासी से जो गेरुआ वस्त्र पहनता है और यह कहता है कि उसने संसार त्याग दिया है, बड़ा संन्यासी वह है जो संसार में कर्म करते हुए भी निष्काम रहता है और अपने वास्तविक स्वरूप को याद रखता है।"

एक ईसाई की इस शंका पर कि क्या मैं 'आत्म-विचार' की पद्धति को अपनाते हुए अपने मातृ-धर्म के प्रति निष्ठावान् रह सकता हूं, महर्षि ने जवाब दिया था : "मैं जो कहता हूं वह ईसाई धर्म का सार है। 'स्वर्ग का राज्य' और यह संसार दो विभिन्न क्षेत्र नहीं है। वह राज्य तुम्हारे हाथ में है, तुम्हारे बीच में है। बुद्धिमान इस संसार को 'स्वर्ग के राज्य' के रूप में देखता है। अन्य लोग केवल 'इस संसार' को देखते हैं। भेद केवल दृष्टि-कोण का है। साधक को सत्युगीवादी, अर्थात् इस मत का नहीं होना चाहिए, कि सत्युग किसी दिन आ सकता है, बल्कि सत्युगकारी होना चाहिए, अर्थात् इस तरह व्यवहार करना चाहिए मानो हम सत्युग में ही हैं। सुधार, दान की तरह, घर से अपने से ही शुरू करना चाहिए। "आत्म-सुधार से समाज-सुधार अपने-आप हो जाता है। आत्म-सुधार पर जमे रहो, समाज-सुधार अपनी फिक्र आप कर लेगा। समर्पण से शक्ति प्राप्त करो और तुम देखोगे कि तुम जितनी शक्ति प्राप्त करते जाते हो, तुम्हारा परि-वेश उतना ही सुधरता जाता है।"

13. सूक्तियां

महर्षि की सूक्तियों का सबसे व्यापक और प्रामाणिक संग्रह **गुरु वाचक कोवै** (गुरु सूक्तिमाला) है, जिसे कवि मुरुगनार ने संकलित किया है और बड़े कलात्मक ढंग से गूंथा हैं। 1282 पदों के इस बृहत् तमिल ग्रंथ में (जिसमें 1254 पद मुरुगनार-रचित और 28 महर्षि-रचित हैं) प्रत्येक पद ऐसी सुनिर्मित और परिष्कृत कला-कृति है जिसमें महर्षि के अधरों से गिरा कोई-न-कोई रत्न जड़ा है। 231 अध्यायों में विभाजित इन पदों को बहुत ही तर्कसंगत और प्रभावी क्रम-विन्यास दिया गया है। इसके अतिरिक्त, अधिकांश पद महर्षि ने स्वयं देख लिए थे और उन्हें अपनी स्वीकृति दी थी। कहीं-कहीं, किसी मुद्दे पर जोर देने या तर्क को और दृढ़ या स्पष्ट करने के लिए, उन्होंने अपनी ओर से जो कुछ जोड़ा भी है या जो बात कही जा रही थी उसे पल्लवित करते हुए दुबारा कहा है।

श्री साधु ओम् का यह कहना बिलकुल ठीक है कि मुरुगनार रमण **प्रस्थानत्रयी**[1] के मुख्य वास्तुकार हैं। उन्होंने महर्षि से **उपदेश सारम्** रचवाया, **उल्लदु नार्पदु**, को अंतिम रूप और सुसंगत गठन देने में सहायता की और **गुरु वाचक कोवै** के ढेर-सारे पदों की स्वयं रचना की तथा उन्हें अंतिम रूप व क्रम-विन्यास दिया। इस ग्रंथ में महर्षि की शिक्षाओं का ऐसा

[1]तीन मूल ग्रंथ; प्रस्थानत्रयी से सामान्यत: गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र का बोध होता है।

सुव्यवस्थित और विस्तृत निरूपण है जिसे उनकी स्वीकृति प्राप्त है, और कम-से-कम तमिल पाठक के लिए तो यह साहित्य के रस का भी एक बारह-मासी सोता है।

यह ग्रंथ तीन भागों में बंटा है जिनके विषय क्रमशः सिद्धांत-निरूपण, अभ्यास और अनुभव हैं।

भाग 1

सिद्धांत-निरूपण : जिज्ञासा का आरंभ और अभ्यास

आदिम और अंतिम
इंद्रियातीत सत्य
शुद्ध सत् की है अनुभूति,
हृदय के अंदर
पूर्ण शांति की चेतना,
'मैं' की प्रतीति के पीछे
है यही तथ्य (16)

मकड़ी का मुंह माया से जैसे
बुनता है जाला
और फिर समेट लेता है,
वैसे ही मन प्रस्फुटित करता है
जग का यह सुमन
और फिर समेट लेता है। (31)

जग का प्रलोभन यदि
मिटेगा नहीं
मुक्ति का सच्चा आनंद

मिलेगा नहीं,
जग के आभास को
सत्य मानना
ऐसा ही है जैसे
मोहांध प्रेमी का
गणिका का सती जानना। (74)

खुद को, अपने सच्चे स्वरूप को
साफ-साफ जानकर, स्वीकार कर
अद्वय ब्रह्म के रूप में
हृदय में सदा रहते हुए,
अपनी मानवी भूमिका
पूरी तरह निभाओ,
अन्य सभी जीवों की तरह
हर दुख हर सुख को चखो। (81)

धीमान् हर चीज की
करता है जांच
और चरम सत्य को
लेता है जान,
पर व्यवहार उसका
विचित्र नहीं होता,
औरों जैसा ही रखो
बाह्य आचार अपना। (82)

सर्प का रूप है मात्र एक भाव,

भाव की जरा शक्ति तो देखो !
रस्सी में, जो कोई भाव नहीं थी,
सर्प उसने पैदा कर दिया
सर्प उसने बनाये रखा
और सर्प फिर नष्ट कर डाला,
सर्प—जो था सारे भय का कारण। (88)

शरीर न हो तो जग नहीं होगा,
मन न हो तो शरीर नहीं होगा,
चित् न हो तो मन नहीं होगा,
सत् न हो तो चित् नहीं होगा। (99)

अलग-अलग मनों की हैं,
अलग-अलग जरूरतें,
इसीलिए गुरु ने विभिन्न
सिद्धांत कहे हैं,
किंतु निजी अनुभव से
सिखाया जो हमें
वह है केवल 'अजात'[1] सिद्धांत। (100)

परम सत्य ही पहले[2]
कृष्ण ने अर्जुन को बताया,
पर मित्र का मन
जब भ्रांत देखा

[1]जन्म है ही नहीं।

[2]गीता के दूसरे अध्याय में

डगमगाता पाया
तो फिर उसे
अन्य मत भी बताये। (101)

हृदय के अंदर
'मैं कौन हूं', खोजता
लुप्त हो जाता साधक,
दीप्त रहते बस शिव।
उत्सुक द्रष्टा ही जब
हो जाय गायब
तो जग के आभास को
सत्य मानना
है निरा पागलपन। (110)

मैं या जग
परमात्मा की तरह
यदि सत्य होते
तो पूर्णता उसकी
अपूर्ण ही रहती,
परमात्मा को खंडित
माने बिना हम
किसी अन्य को सत्य
कह ही नहीं सकते। (112)

जीवन्मुक्त को व्यक्ति मानना
विद्वत्ता की है मूर्खता,
सत् के निर्मल नभ में दिखती

उसकी पृथक्ता
देहासक्त दर्शकों की पृथक्ता
की ही है मात्र छाया। (119)
आत्मा के खोजी के हृदय में रहता
सत्-रूपी चित् ही केवल
बचती नहीं फिर देहासक्ति
उसमें कहीं भी कण-भर,
इसको या उसको कह कैसे सकते है
अत: 'अनोखा ज्ञानी',
ज्ञानी क्या होता है देह ही केवल
होंगे जो वे एकाधिक ? (120)

कभी किसी तो कभी किसी
महान आत्मा की खोज में भटकनेवालो,
क्या सभी महान् आत्माएं
एक महान आत्मा नहीं है ?
तुम्हे जहां जाना, जिसे जानना, जो बनता है,
वह अद्वयतत्व क्या
तुम्हारे ही अदर नही है ?
तुम्हारा ही स्वरूप नहीं है? (121)

अहं जिसमें रहा नहीं,
जिसने 'मैं' को—
उत्तम-पुरुप मूल उद्देश्य को
और 'तू' को—

सत् रूप विधेय को
एक साथ पूर्णतया जान लिया,
वह, केवल वही है सच्चा ज्ञाता। (137)

ठीक से देखो तो परम नियंता की
विश्व-लीला का भेद बस इतना—
अहं के होने से सब कुछ होता (166)
अहं के मिटने से सब कुछ मिटता।

रेल में बैठे समझदार यात्री
सामान अपना सिर पर नहीं ढोते,
भाप से चलती रेल के लिए
भारी बोझ भी हैं तिनके-जैसे (172)

ऐसे ही परमेश्वर
सब का पालनहार,
अतः अपनी चिंताओं
के सब भार
उसी चैतन्य पर
दीजिए डाल
और खुद रहिए स्वच्छंद। (173)

मौसम व हवा को झेलते
नाव के तनेपाल-जैसे नहीं,
सागर में गहरे डूबे
नम्र लंगर-जैसे रहो,

मन का हृदय में डूबना
और टिकना ही है बुद्धिमत्ता। (191)

परमावस्था के रस के प्यासे
धार्मिक जन के लिए
है एक ही पराक्रम आवश्यक
बाहर दौड़ते मन को खींचे अंदर
और हृदय में जमा दे कसकर (192)

हम मानते हैं खुद को शरीर
और सोचते स्वर्ग है कहीं दूर,
शिवलोक के लिए जाना कहीं नहीं है
वह है हृदय में और कहीं नहीं है। (194)

तुम, जो हो पूर्ण प्रकाश,
परलोक को खुद जगह देते,
उस पर होते विस्मित
उसकी चर्चाएं करते।
उसे जानने को खुद को जानो
प्रभु का राज्य है अंदर,
पहचानो। (195)

वह परम आनंद जिसका स्वाद चख
मन छोड़ देता खोज सब,
वह हृदय जिससे उमड़ता नित-नयी
अनुभूति का सोता अजस्र,
वह हृदय आनंदमय ही है चिरंतन

शिव परम आह्लादकर। (202)

काल की अवज्ञा कर मार्कंड
आयु के बाद भी जीता रहा,
शिव हैं महाकाल
काल के भी काल,
उनकी उपासना
काल के जाल को
कर देती तार-तार। (205)

और क्या है शिवोपासना ?
पंच तत्वों में, सूर्य में, चंद्र में,
सभी जीवों में
तेजोमय रूप एक
उन्हीं का देखना,
सभी को समयोचित सेवा
सबके लिए उचित संवेदना—
यही है यही सर्वोतम
नित-नयी शिवोपासना। (206)

आत्मा-शक्ति के लिए नहीं है
कोई कार्य अशक्य
आत्म-शक्ति है क्योंकि वस्तुतः
दिव्य प्रेम की शक्ति,
यह कहना यह सोचना कि
बहुसंख्या या शस्त्र
आत्म-शक्ति से किसी तरह भी

हैं कहीं अधिक समर्थ,
तुच्छ देह पर है निर्भरता
सीधी-सीधी बज्रमूर्खता। (215)

शक्ति और शांति को विभिन्न मानना
है नहीं सत्य को जानना,
शांति के रूप में रहता जो अंदर
शक्ति के रूप में दिखता वही बाहर। (216)

मुमुक्षु जब सिद्धियों में
रमाता है मन
तो कसता है और बंधन,
क्योंकि अहं की जड़े बढ़ती हैं
होती हैं सघन। (222)

स्वप्न में देख अचानक बाघ
जाग जाता हाथी तत्काल,
अविद्या की माया से भ्रांत
स्वप्न-सम जीवन में अपने
देखकर साधक भी गुरु को
अंधेरी निद्रा देता त्याग। (283)
मौन उपदेशक गुरु के नेत्र
और सच्चे योग्य शिष्य के नेत्र
जब मिल जाते करते संलाप
तो शब्द हैं हो जाते बेकार,
और दृष्टि वह देती है आलोक

जो आप अकेला रहता शेष
अन्य सभी कुछ करता लोप। (286)

भक्त के प्रेमपूर्ण हृदय में विराजमान
पापनाशक गुरु की शोभा
प्रगट होती पर्वत के समान
उत्तरोत्तर भव्य उत्तरोत्तर महान,
निरंतर बढ़ते इस आनंद का रहस्य
है अवर्णनीय,
जिन्होंने इसे जाना वे कहते नहीं
जो कहते हैं उन्होंने जाना नहीं। (325)

शिव ने प्रसन्न हो ज्ञानी
भक्तों से जो चाहा मिलना
तो अविचल निष्ठावाले
संतों की सभा में पहुंचे,
और रूप बदल कर अपना
हो प्रेमविभोर वहां पर
करने लगे लीला-क्रीड़ा। (334)

"मैं कौन हूं ? यह अनिवार्य,
यह सच्चा, जीवंत आत्म
क्या है ?"—यह अन्वेषण ही,
अंदर की यह जिज्ञासा ही
है वह पावन जीवन-धारा
जो सब धर्मों में बहती,
जो अजर अमर जीवन का

है सीधा मार्ग दिखाती। (338)

अंतर के महा विस्तार में खड़ा
यह अगोचर हिमालय
जब शब्दों में नहीं है कथनीय,
तो परम् तत्व की चर्चा में रत
नाना मतों का तीव्र वाद-विवाद
क्या नहीं है हाट-बाजार का
कोरा कोलाहल मात्र ? (341)

प्रभु को, जीवन के जीवन को जो
अंतर में खोजता व दमकता पाता,
तुच्छ निकृष्ट कीड़े तक में वह
परम-प्रिय परमात्मा को पाता। (345)

चित् की प्रज्वलित होमाग्नि में जब
देता शिव को कोई आहुति मन की
और करता आराधना,
तो शिव के रूप में हो जाता विलीन
पा लेता उनकी दिव्य निराकारता। (353)

"यह पृथक् आत्म छोड़ दूं
तो जाने क्या हो ?"
यह भय यह शंका है सब व्यर्थ ही,
डाल से लटका छोड़ दे डाल
तो आयेगा सीधा धरती पर ही,
पहुंचोगे तुम सच्चे आत्म पर ही। (354)

देह के सलीब पर टंगा
अहं-रूप ईसा
यंत्रणा पाता और मर जाता,
काम के मरने पर सच्चा आत्म
परमात्म-रूप हो जगमगाता,
यही है प्रभु का पुनरुत्थान। (365)

दूर से लगती है मेरु-जैसी
है मात्र कण-सी किंतु यह कामना,
फिसलो इसकी ओर तो मुंह इसका
खुल जाता एक गहरी खाई-सा,
अतल गर्त है यह जिसके भरने की
हो ही नहीं सकती संभावना। (371)

मैं की खोज में वस्तुतः
लग जाता जब जीव,
'मैं'-मुक्त सच्चे आत्म में
ही हो जाता विलीन। (388)

आत्मान्वेषण की निरापद सीधी
राह का राही
मार्ग अपना भूल ही नहीं सकता,
उज्ज्वल निरभ्र सूर्य-सा पथ वह
पग-पग पर बिलकुल खरा उतरता,
और राही उस पर चलता बढ़ता
आखिर आत्मा से जा मिलता। (393)

कर्त्तव्य समझ तप करते
पर प्रेम न तप से रखते
जो मायाग्रस्त अभागे,
आनंद की व्यापक गगा
के बीच भी वे अपने को
शोकाग्नि में जलता पाते। (411)

हवा में उड़ते पक्षियों
पानी में दौड़ती मछलियो
के पीछे उनकी
कोई लीक नहीं बचती,
आत्मा को खोजने
और पानेवालों की भी
कोई लीक किसी को
दिखाई नहीं पड़ती। (413)

चेतना के स्वर्ण-मंदिर में
शुद्ध चैतन्य रूप में
शिव को जो देखता
और अर्पित करना चेतना,
परम सत्य है परम सत्य
नि:संशय उसकी चेतना। (417)

चेतना को जानती जो
और कुछ नहीं जानती
वही तो है सच्ची और
परिपूर्ण चेतना,

चेतना को होती नहीं
जब तक अपनी चेतना
पा ही नहीं सकती चैन
तब तक कभी चेतना। (418)

जितना कुछ भी इस जग में
है जाना और पहचाना
सब निराधार मिट जाता—
यह देख रहा पर फिर भी
जो खुद अपने अंदर ही
चित् को न खोजता पाता,
उस मिट्टी के माधो को
कैसे कोई शास्त्र कभी भी
दे सकता चित् की शिक्षा ? (431)

अनासक्ति है, पावनता है चेतना,
ईश्वर से एकात्मकता है चेतना,
सजग चेतना है निर्भयता
और अमरता,
जो-कुछ है जितना कुछ है
है चेतना
'जीवन अपना', कहते हैं वे,
'प्रभु को अर्पित करना',
पर क्या जीवन है यह मेरा
प्रभु का ही नहीं अपना ?
यूं कहिए, "अब इस चोरी पर

हृदय से है पछताना
और चुराया धन यह उनके
श्रीचरणों में धरना !" (480)

खांड की प्रतिमा से तोड़ के टुकड़ा
हम उसी को करते अर्पण,
आत्मा की भेंट भी सर्वात्मा को
वैसा ही है समर्पण। (486)

है देखता सबमें खुद को
क्षुद्रातिक्षुद्र बन जाता,
अपनी विनम्रता द्वारा
ईश्वर सर्वोच्चता पाता। (497)

तुच्छ घास-फूस सब
तैरते हैं बाढ़ पर,
मोती नीचे डूब जाते
बैठ जाते तह में,
लोग जग में ऊंचे-नीचे
स्थान से तो होते नहीं
होते हैं स्वरूप से (499)

भाग 2

सतत अभ्यास

सत्य को शब्द स्पष्ट नहीं करते
धुंधला करते हैं और छिपाते हैं,

सत्य को शब्दों में मत दाबो
तेज से अपने खुद दमकने दो,
शब्द और भाव दोनों को
हृदय में ही विलीन होने दो। (525)

अनगिनती रूपोंवाली
इस बहुरंगी दुनिया का
अंतःसार है एक
जैसे कोल्हू में पिसते
लाखों-लाख तिलों का
अंत-सार है तेल। (543)

अग्नि घी के पड़ने से
बुझती नहीं, भड़कती है,
वासना भी तुष्टि से
बढ़ती और पनपती है। (592)

कष्टों संकटों के बिना
तप का सत्य कभी
झलकता ही नहीं,
खान से निकला रत्न
कड़ी घिसाई बिना
दमकता ही नहीं। (619)

देखो प्रेम, सुनो प्रेम,
छुओ प्रेम, पाओ प्रेम,
खाओ, सूंघो मधुर प्रेम,

आत्मा को अपना बोध,
अपनी चेतना है प्रेम। (655)

अरे ओ लालायित हृदय,
भीतर और बाहर है तुझे
साकार ईश्वर से प्रेम
उसी की करता तू अर्चना,
पर वह है सभी रूपों में
सर्वत्र, यह मत भूलना। (660)

अल्लाह की जो करते नित्य उपासना
पाते हैं तत्काल लाभ उल्लास वे,
क्रोध दुष्टता की ज्वालाओं बीच भी
रहते हैं निश्चित वे शांत वे। (663)

यदा-कदा ध्यान आखिर क्यों ?
निरंतर आत्म-चेतना में रहो,
विचारों के खुजलाते बालों को
एक-एक कर नोचते हो क्यों ?
पूरी चांद एकसाथ घुटवा दो। (675)

एड़ी में चुभे कांटे को
हम किसी और कांटे से
धीरे-से हैं लेते निकाल,
फिर दोनों को देते त्याग;
बंधन के भाव को पहले
कर मुक्ति के भाव से दूर,

फिर उसको भी दे तू त्याग। (67[illegible])

पिछला कर्म ही पक कर
जब बनता भाग्य हमारा
तो आज का अच्छा कर्म
बदलेगा न भाग्य हमारा ? (692)

'भगवान हूं मैं' यह कहता
मारा-मारा क्यों फिरता,
तू रह परमात्मा ही सा,
दावों मे कुछ नहीं बनता
आत्मा में जम कर रहना
ही केवल शोक मिटाता। (709)

जीव, जगत, दोनों का
है ईश्वर पावन धाम—
इस सत्य को समझे बिन ही
पूजा के लिए हम उसको
खुद अपने गढ़े मंदिर की
सीमाओं में देते बाँध। (711)

हृदय के भीतर का शुद्ध सत्
चित् की रश्मियों में फूटता
जब फैलता है बाहर,
तो होते हैं उसके असंख्य नाम
जिनमें सबसे पहला है 'मैं'। (712)

दिग्यंत्र की सूई जैसे

रहती हैं मुड़ी उत्तर को
ईश्वर की ओर मुड़े हैं
ऐसे ही हृदय भी जिनके,
उद्दाम कामनाओं के
तूफानी सागर में भी
दिग्भ्रष्ट नहीं वे होते। (734)

चित् रूप का अपने
निष्ठा से जम कर
करता जो ध्यान,
वह आत्मा में, शिव में
हो जाता अंतर्धान। (742)

आत्मा के, सत् के
रूप में ही मानव
फूलता और फलता,
अतः अपनी समझ से वह
जो औरों के लिए करता
खुद अपने लिए करता। (808)

देह से निकल जाय प्राण
तो फिर किसी भी प्रकार
कोई ला नहीं सकता,
अतः किसी भी कारण
किसी के प्राण लेने का
हक कोई नहीं रखता। (812)

नाव बहती रहे जल में
जल नाव में न आये,
हम रहते रहें जग में
जग मन पर न छाये। (822

खोखला घड़ा ही डूबता पानी में
ठोस बल्ली कभी नहीं डूबती,
जग की रीत करती हैरान
आसक्त मन को ही
अनासक्त को कभी नहीं करती। (823)

अहं का त्याग है
सबसे कठिन त्याग,
जिसने वह कर दिया
उसे फिर त्यागने को
रहा ही क्या ? (837)

मेरा मन, तेरा मन मानना
मन को बांटना है मूर्खता,
यही है वह बंधन
बंधे, कसे हैं जिसमें सभी जन,
मन है बस एक
केवल परम चैतन्य की
शक्ति और निर्मलता। (842)

भाग 3

अनुभव

सच्ची चेतना है चक्षु असीम
अपने सिवा वह कुछ नहीं देखती
शुभाशुभ, देश, काल, विषय या विषयी
द्वैत, बीज, कर्म-फल कुछ नहीं देखती। (880)

आनंद की अनन्य स्थिति—वह समाधि
कठिन तपस्या से बाद में जिसकी
होनी है अनुभूति,
यदि है वास्तविक
तो वह जैसे तब है
है वैसे ही अब भी
जो है नहीं अब और बाद में है होती (886)

वह स्वाभाविक स्थिति हो ही नहीं सकती,
वह रहेगी भी नहीं, जायेगी अवश्य। (887)

एक ही नारी, बिना रूप बदले,
किसी की है माता किसी की पत्नी
किसी की साली किसी की भगिनी,
ऐसे ही यह दुनिया
अलग-अलग लोगों को अलग-अलग लगती। (907)

स्वर्ण में ज्यों कंगन, मरीचिका में जल,

स्वप्न में दिखता नगर-प्राचीर,
ऐसे ही जो-कुछ भी आता है नजर
द्रष्टा के आत्म में ही है केवल। (923)

सत् चित् आनंद को
बोलें चाहे अलग-अलग
तीनों हैं एक जीवंत अनुभव,
जैसे कि अतुल पेय--
निर्मल स्वच्छ जल
तरल मधुर शीतल
है तीनों एक संग। (979)

सच और झूठ
ज्ञान-अज्ञान
सौंदर्य कुरूपता—
सभी हैं ब्रह्म,
केवल एक ब्रह्म। (987)

आत्मा का स्वरूप है आनंद,
आत्मा अनंत असीम आनंद—
सत्ता समग्र केवल आनंद,
करके यह हृदयंगम आत्मा में रहो
भोगो सदैव सदैव आनंद। (1029)

महाशक्तिशाली है
घातक हैं दानव
जो छह इंद्रियों से

जग को है देखता
और कायम रखता,
पर परमानंददाता
कार्तिकेय कुमार
उसे क्रोध से ललकारते,
फिर हृदय में खदेड़ते
और नष्ट कर देते वहां। (1031)

आत्मा है एक शुद्ध सत्य चेतना
पर्दे-सी सदा शांत व स्थिर,
द्रष्टा, दर्शन और दृश्य जगत
है उस पर पड़ता एक चलचित्र। (1047-48)

आत्मा है असली अडिग मध्य-धुरी,
अहं है उस पर व्याकुल रथ-चक्र,
काम है जिसका उठना गिरना
भोगना दुख हर छिन हर पल। (1052)

आत्म-सत्य है परम सत्य
पर भ्रांतिग्रस्त उसकी बजाय
अन्यान्य सत्य खोजा करता,
ज्यों झल्लाया कोई नाई
बालों के कूड़े-करकट को
करता नहीं साफ बुहारी से
बल्कि टटोलने है लगता। (1076)

क्या कोई अंतर है

जीव में और शिव में,
दास गुड्डे में और राजा गुड्डे में ?
दोनो ही हैं मधुर अमृत के बने । (1081)

ये नाम ये रूप, सुंदर अनगिनत
लंबे प्रेम-विह्वल ध्यान की उपज
हैं काल्पनिक विशेषण,
शिव है अरूप निराकार शुद्ध चैतन्य । (1099)

ज्ञानी की महानता को आंकने को चमत्कार
वैसे ही हैं बेकार
जैसे कोई सूर्य की प्रचंड शक्ति मापने को
छोटे किसी छिद्र में से झांकती प्रकाश की
पीली एक किरण को ही बना ले मूलाधार (1170)

न कोई आता है न कोई जाता है
न कोई बंधा न कोई प्रयत्नशील
न कोई पूर्णता को लालायित ।
न कोई हो रहा मुक्त—
यही है परम सत्य । (1227)

14. तुलनाएं और निष्कर्ष

मोक्ष या ऐक्य की चेतना जिसका मूल भी है और फल भी-ऐसे एक सक्रिय, गतिशील और आत्मनिर्भर धर्म के लिए आवश्यक जीवन-व्यवस्था भारतीयों के पास सदा रही है; अलबत्ता पूरे समाज तक उसका प्रसार नहीं हुआ था। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य ने उसे भावी पीढ़ियों के लिए मानो विशिष्ट वर्ग के कांच के मर्तबान में सुरक्षित रख छोड़ा था। हमारे अपने युग में गांधीजी और रमण महर्षि ने कांच का वह मर्तबान तोड़ दिया और बीज बिखरा दिये। बौद्धिक हिंदू धर्म और लोकरूढ़ हिंदू धर्म, ज्ञान और कर्म, विशिष्ट वर्ग और जन-साधारण के बीच की दीवार उन्होंने तोड़ दी। गांधीजी और श्री अरविंद—अपने पूर्वकाल में—कर्मी थे। किंतु गांधीजी ने बड़े श्रम से और बार-बार जीवंत स्वराज्य की व्याख्या करते हुए उसे, पूर्ण वैदिक अर्थों में, आत्म-शासन बताया और श्री अरविंद ने भी कई दशकों तक स्वयं अपनी जीवन-प्रणाली से यह सिद्ध किया कि चेतना-जगत उनके लिए भौतिक और सामाजिक जगत से कहीं अधिक वास्तविक थे। दूसरी ओर शंकराचार्य ज्ञानी के रूप में जाने जाते हैं, पर उन्होंने अपनी सतत कर्मठता से यह सिद्ध कर दिया कि यह तुच्छ उपग्रह और हमारा यह प्रिय देश उनके लिए बहुत महत्व रखते थे। सामाजिक चिंता, अपने लोगों से प्रेम और उनकी सेवा के सकारात्मक अर्थों में, दूसरों के प्रति किसी भी प्रकार की दुर्भावना से अछूती देश-भक्ति, स्वधर्म में निष्ठा और उसका पालन—यह सब व्यावहारिक वेदांत और असली देशी

हिंदू धर्म है। और इसका उन विक्षिप्तता-भरी विचित्रताओं, रोमांचकारी चमत्कारों, तुरंत समाधि के वायदों और अपने दायित्व से पलायन की अन्य पाखंडपूर्ण तथाकथित आत्मिक उड़ानों से कोई सरोकार नहीं है जिनका कि इस 'जेट' युग के बहुरंगी 'योगी' और 'ऋषि' आजकल दावा करते हैं। विवेकानंद, गांधी और अरविंद मोक्ष और धर्म के जीवंत संबंध को समझते थे और उन्होंने अपने लोगों से प्रेम और उनके लिए चिंता को, वह चाहे कारण-रूप में हो या परिणाम-रूप में; सच्चे धर्म का अनिवार्य तत्त्व बताया। सच्चा धर्म स्वधर्म में पलायन नहीं है, अपितु आध्यात्मिक साधना के रूप में और अपने लोगों के कल्याण के लिए उसमें और भी गहरा उतरना है। वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन की तरह, राजनीति और जनसेवा भी धर्म के अंग हैं। यह याद रखना चाहिए कि धर्म उभय-वृत्तिक शक्ति है जो समूचे **अर्थ** और **काम** की नियामक है, परंतु स्वयं मोक्ष द्वारा प्रतिपालित है। महर्षि ने 15 अगस्त, 1917 को जो-कुछ कहा—काव्यकंठ गणपति मुनि ने इसे **रमणगीता** के दसवें अध्याय में गूंथा है—उसके गूढ़ार्थों का अनुशीलन हमें इसी संदर्भ में करना चाहिए। यह अध्याय और 'चालीसा' के परिशिष्ट के पद 26-27 तथा 'टॉक्स'(वार्ताएं) में संकलित अनेक वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि, गांधीजी की तरह, महर्षि सामाजिक नातों और अंतर्राष्ट्रीय बंधुत्व को मूल्यवान मानते थे और समानता की भावना को नैतिक उत्कर्ष का लक्षण और मापदंड समझते थे। श्रीराम और उनके निःस्वार्थ कर्मठ व वीरोचित जीवन की वे सराहना करते थे और उनका उदाहरण दिया करते थे। ज्ञान को कर्म से जोड़ने के महात्मा गांधी के विराट प्रयोगों को वे सहृदय समानुभूति और रुचि के साथ देखते थे।

ज्ञान किसी चीज को देखना नहीं है। वह तो ऐक्य का, चेतना के रूप में अपनी समग्र सत्ता का, अनुभव, उपभोग और उपयोग है। अपने नेत्रों

को कोई कैसे देख सकता है। उनका तो वह प्रयोग ही कर सकता है। सत्ता (होने) को मनुष्य जान नहीं सकता। मनुष्य केवल 'हो' सकता है। और यह 'होना' विशुद्ध चेतन, सत्ता-रूप, हो जाना है। 'मैं हूं' बस इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रकार की विशुद्ध सत्ता 'शिव' है। वे हमें बताते हैं, "शिव के दर्शनों की अपेक्षा मत करो।" बल्कि शिव होने के लिए तैयार रहना चाहिए। अहं को रखते हुए कोई शिव नहीं हो सकता। अहं को खोने का अर्थ चेतना का प्रवेश है। 'होकर' जानना ही एकमात्र सच्चा और पूर्ण ज्ञान है; अन्य प्रकार के ज्ञान केवल सापेक्षिक और आंशिक हैं। इस प्रकार का सच्चा ज्ञान हमें दूसरों के साथ समानुभूति, सत् और चित् में साझेदारी, नाना रूपों में उपस्थित नारायण से सक्रिय प्रेम और उनकी सेवा की ओर ले जाता है।

महर्षि के शुद्ध वेदांत या ज्ञान और महात्मा गांधी के व्यावहारिक वेदांत या कर्मयोग, दोनों का आधार या मान्यता है कि अपने पृथक् अहं से आसक्ति ही एकमात्र आत्मिक दोष है। गीता पर अपने लेखों (1926 में) गांधीजी कहते हैं: "अहं से अपनी आसक्ति हम जहां तक हटायेंगे, वहीं तक सत्य का पालन कर सकेंगे। एक बार हमें यह बोध हो जाय कि सारा विश्व ईश्वर में है, तो चोरों और हिंसक पशुओं तक को आत्मवत् अनुभव करेंगे। जब तक हम वैसा अनुभव न करें तब तक यह निश्चित है कि हम ज्ञान की स्थिति पर कतई नहीं पहुंचे हैं।···

"भलाई करना मनुष्य का स्वभाव है, क्योंकि सभी आत्माएं एक हैं। यह जो प्रत्येक जीवन पृथक् दिखायी देता है, इसका कोई महत्व नहीं है। मनुष्य को जब यह बोध हो जाता है तो उसका अहं गल जाता है।"

1935 में लिखे गये एक पत्र में गांधीजी फिर कहते हैं:

"पुनर्जन्म में विश्वास के लिए 'मैं' के अस्तित्व में विश्वास आवश्यक है। यदि मेरा अस्तित्व नहीं है, केवल ईश्वर का अस्तित्व है, तो पुनर्जन्म

किसका और कैसे होगा ? क्या यह बोध स्वयं ही पुनर्जन्म नहीं है ? बोध हृदय से होता है। मस्तिष्क केवल तर्क प्रदान करता है। पर तर्क का मूल्य ही क्या है ? बोध केवल सेवा से ही संभव है।"

परंतु महर्षि के अनुसार आत्मबोध की पद्धति में 'आत्म-विचार' और सेवा दोनों शामिल हैं।

रमण महर्षि के प्रति गांधीजी के रुख का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि जब शंकराचार्य वैंकर, राजेंद्र प्रसाद या जमनालाल बजाज जैसा उनका कोई आत्मीय अवसाद या दिमागी परेशानी का शिकार होता था तो वे उसे सलाह दिया करते थे, "रमणाश्रम जाओ और वहां एक मास रह आओ।" और वह प्राय: वहां से एक सप्ताह या पखवाड़े में ही स्वस्थ मन लेकर और अपने दायित्वों को फिर से संभालने के लिए तैयार होकर वापस आ जाता था।

ध्यान और कर्म, निश्चलता और गति एक ही क्रियातंत्र के परस्पर पूरक भाग हैं। चक्की में तेजी से घूमते ऊपरले पाट की सतत गति और पिसाई की क्षमता निचले पाट की सुदृढ़ निश्चलता पर निर्भर होती है। यही बात ऊपरले और निचले जबड़े, धुरी और चक्के और नटराज के दो चरणों के बारे में है। शांति, जो शुद्ध चैतन्य या सत् है, हमारे युग में महर्षि मे मूर्तिमान् हुई। शक्ति, जो सत्य का सत्य द्वारा बोध है, सत् के अंदर सत्य से सत्य तक जाना है, महात्मा गांधी में मूर्तिमान् हुई। शांति, जो चेतना है, और शक्ति, जो कर्म की ताकत है, एक ही वास्तविकता के दो पहलू हैं। सरोजिनी नायडू ने कहा था, "ये दो महान—महर्षि जिन्होंने हमें शांति दी और महात्मा जो हमें एक पल भी शांति से रहने नहीं देते—ये दोनों भारत के आत्मिक पुनर्जन्म के लिए कार्यरत हैं।" ज्ञानी और कर्मयोगी को स्वस्थ समाज में अपना-अपना उपयुक्त काम करना होता है, जैसे कि जीवित शरीर में नेत्रों और हाथों को अपना-अपना उपयुक्त काम करना होता है।

ज्ञान के, चेतना के प्रति जे. कृष्णमूर्ति और रमण महर्षि के दृष्टिकोणों में अद्भुत समानता है, वे उसे सत्ता और व्यवहार की पूर्णता मानते हैं। दोनों साधक को मन के सीमांत तक ले जाते हैं और उसे वहां अज्ञात में गोता लगाने के लिए छोड़ देते हैं। दोनों यह सलाह देते हैं कि शून्य, वैय-क्तिक सत्ता के अभाव को सीधा अनुभव करना चाहिए। यही वह साधन है जिससे चेतना का शाश्वत सोता फूटेगा। यह चेतना सर्वोच्च ऊर्जा भी है और सर्वाधिक कर्म भी। दूसरे शब्दों में, दोनों हमें काल और द्वैत के क्षेत्र से बाहर, सत्-चित् की पूर्णता में ले जाते हैं।

दोनों इसपर जोर देते हैं कि 'होकर' जानना ही पूर्ण और यथार्थ ज्ञान है; इसी ज्ञान के द्वारा जीवन संपूर्ण रूप में जिया जा सकता है। अन्य प्रकार के ज्ञान केवल आंशिक हैं और उनका महत्व केवल साधन के रूप में है। दोनों मानसिक स्मृति को वास्तविक स्मृति से पृथक् मान उसका विरोध करते हैं और यह चाहते हैं कि मस्तिष्क को समुपस्थित को जानने के एक साधन के रूप में, दर्पण की तरह, काम करना चाहिए। उसे चिरकालीन वासनाओं या पिछले प्रभावों से मुक्त होना चाहिए। दोनों विचारों और शब्दों को सत् को जानने में बाधक मान उनका विरोध करते है और दोनों मौन संपर्क को वाणी से बहुत अधिक शक्तिशाली मानते हैं। दोनों के लिए अनुभव-प्रक्रिया अनुभव करनेवाले से अधिक वास्तविक है। दोनों के अनुसार, विचारक एक काल्पनिक सत्ता है जो विचार की उपज है। दोनों एक मार्ग सुझाते हैं, खोज की एक पद्धति सामने रखते हैं, किसी निर्धारित वाद की शिक्षा नहीं देते। दोनों सत् के सत्य की तत्काल व्यावहारिक खोज के लिए प्रेरित करते हैं और भावी जन्मों या अन्य लोकों में रुचि को निरुत्साहित करते हैं। दोनों संप्रदायवादिता, गुह्यवाद और चमत्कारों व जंत्रों-तंत्रों में विश्वास की निंदा करते हैं और उन्हें मानव चेतना की विकृतियां और मानव एकता के लिए विनाशकारी मानते हैं। दोनों अंतश्चेतना के यहीं

और अभी रूपांतरण पर जोर देते हैं, जिससे कि मनुष्य परिचित और इसलिए अवज्ञात वस्तुओं के भीतर से झांक रही दिव्य पवित्रता को और प्रत्येक व्यक्ति की अखंडता को देख सके, समझ सके और इस प्रकार व्यक्ति और समाज के एक सदस्य के रूप मे अपना विकास कर सके। दोनों सबको गले लगानेवाले मां के-से-प्रेम मे विश्वासकरते हैं और उसे ऐसी सृजनात्मक शक्ति मानते हैं जो इस भ्रष्ट और टुकड़ों में बँटे संसार का उद्धार कर सकती है।

फिर भी, कृष्णमूर्ति उस 'अनाम अनुभूति' को मौन द्वारा या ऐसे शब्दों द्वारा सप्रेषित करने का प्रयास करते है जिनमें परंपरागत धर्म का कोई योगदान नहीं है। वे ऐसा महसूस करते हैं कि हार्दिक संवाद की स्थिति एक बार प्राप्त हो जाय तो वह संप्रेषण के अपने उपयुक्त रूप उत्पन्न कर लेगी। दूसरी ओर, महर्षि उन पुराण-कथाओं, प्रतीकों, तर्कों और बिबों को, जिनसे हम संसार के धर्मों के कारण परिचित हैं स्वीकार करते हैं और उनका प्रयोग करते हैं। वे लोगों को साधना के उन अनेक प्रकारों से भी विरत नहीं करते जिनके कि वे अभ्यस्त हैं। वैसे उन्होंने 'आत्म-विचार' को इन साधनाओं के पूरक विकल्प के रूप में सामने रखने पर पूरा ध्यान दिया है।

कार्लाइल ने अपनी पुस्तक **सार्टर रिसार्टस** में यह इच्छा प्रकट की थी कि धर्म के दिव्य मर्म को लोगों तक पहुंचाने के लिए एक नया वाहन चाहिए—एक नयी पुराण-विद्या, एक नयी वेशभूषा चाहिए। नयी पौराणिक कथाएं रचने की इस इच्छा या कोशिश में ही उस पागलपन के बीज थे जो आगे चलकर नाजीवाद की विभीषिका में प्रकट हुआ। पुराण-कथाएं गढ़ी नहीं जाती; वे तो जन-समुदायों को उनकी जीवन-यात्रा में मानो बनी-बनायी मिल जाती हैं—किसी जन-समाज के बीच उनका जीवंत विकास होता है, जैसे कि वाल्मीकि और व्यास जैसे महर्षियों का विकास

होता है। पुराण-कथाओं और महर्षियों का निर्माण नहीं हो सकता। परतु महर्षियों की उपेक्षा और महात्माओं की हत्या की जा सकती है और पुराण-कथाओं का दुरुपयोग किया जा सकता है या उन्हें जीर्ण और नष्ट होने दिया जा सकता है। रमण महर्षि और महात्मा गांधी ने हमारी अभी भी जीवंत और हितकारी पुराण-कथाओं के आंतरिक भावों और उनकी मनोहर कार्य-पद्धति को समझा था। भगवानदास, कुमारस्वामी, जिमर, दानियेलू; चिद्भावानंद आदि ने इतिहास, तत्त्व विज्ञान, नीति और मनोविज्ञान की दृष्टि से उनकी व्याख्या की है। उनमें हमें यह साफ बताया गया है कि हमारे देवताओं का जन्म कैसे हुआ और वे किस चीज के प्रतिनिधि हैं, 'माता', 'पिता' और 'पुत्र' की प्रभु और सेवक की प्राचीन पुराण-कथाएं किस प्रकार आज की मनोसामाजिक वास्तविकताओं से संबद्ध हैं, और किस प्रकार ये कथाएं आधुनिक मानव की भावनात्मक और नैतिक आवश्यकताओं की तुष्टि करती हैं। महर्षि और महात्मा गांधी दोनों हमें सावधान करते हैं कि देव-भक्ति का उपयोग नैतिक और सामाजिक दायित्वों से पलायन के एक सरल मार्ग के रूप में नहीं करना चाहिए। शंकराचार्य और रामानुजाचार्य की सच्ची वेदांतिक शिक्षा को ही वे आज समसामयिक शब्दों में दोहराते हैं।

सामान्य बुद्धि, विवेक या तर्क का उल्लंघन किये विना, महर्षि हर किसी को वह मार्ग बताते है जिससे आत्मा को पाया जा सकता है और तद्रूप हुआ जा सकता है, इस सजीव ससार के एक स्वस्थ अंग की तरह काम करके संतोष प्राप्त किया जा सकता है, बीच-बीच में शुद्ध चैतन्य के परमानंद का स्वाद चखा जा सकता है और स्वधर्म का, जो कि मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, सदैव पालन किया जा सकता है, तथा जीवन की सभी हलचलों और उलट-फेरों में एक सहज मानव प्राणी की ईमानदारी कायम रखी जा सकती है। विनम्रता और सच्ची निष्ठा से 'आत्म-विचार' करके

कोई भी परम सत्य को आत्मसात् कर सकता है और उसका आनंद ले सकता है। इस प्रकार वह चेतना को, जो प्रत्येक मानव हृदय में निरंतर दीप्तिमान है, स्वास्थ्य और विकास के लिए उसी तरह काम में ला सकता है जैसे कि आकाश में विराजता सूर्य हम सबको जीवन और ऊष्मा प्रसारित करता है। 'मैं' की खोज एक बार शुरू होते ही अहं का अंधकार धीरे-धीरे गलने और शुद्ध सत् के व्यापक प्रकाश में लुप्त होने लगता है।

महर्षि अपने मौन के लिए कुख्यात थे और शिला की तरह अविचल बैठे रहते थे। परंतु यदि कभी रामकृष्ण, विवेकानंद, गांधी, अरविंद आदि दिव्य मानव विभूतियों के विरुद्ध कोई कानाफूसी चलती तो वे उठ बैठते थे और उसपर अवश्य ध्यान देते थे। उनके अनुरागी भक्तों में से कुछ कभी-कभी इनकी ईर्ष्यामूलक तुलनाएं करने लगते। तब वे उस आलोचक के पाप का क्रोध से नहीं अपितु शोक से परिशोध करते हुए कहते : "यह हमारा अहं बोल रहा है।" महर्षि को यदि हम मानव, एक इंद्रियातीत मानव, मानवता का साक्षात् रूप और सार, अपने युग का पुरुषोत्तम न मान कर, एक सर्वोच्च दार्शनिक मानें और उनकी शिक्षाओं का विश्लेषण कर उन्हें सूचीबद्ध करें, तो यह उनके प्रति अन्याय होगा और हम खुद भी कंगाल रहेंगे। पशु, पक्षी, बच्चे और अनपढ़ लोग रमण महर्षि के पूर्ण सान्निध्य को कुछ इस ढंग से महसूस करते थे कि विद्वान उसे समझ या समझा नहीं पाते थे। अतः महर्षि की चर्चा हमें उन्हें अपने जन-सामान्य से पृथक्, एक असाधारण व्यक्ति मानकर नहीं करनी चाहिए। अपनी प्रभावशाली निर्वैयक्तिकता में ही वे भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे सभी मानवों में विद्यमान मूल आदर्श मानव हैं। अपनी दिव्य नियति की पूर्ति में रत, बीसवीं शती की विकासशील मानवता की वे उगती कली हैं।

जैसा कि कार्ल जुंग का कहना है :

श्री रमण भारतीय धरती के सच्चे पुत्र हैं। वे खरा सोना हैं और साथ ही एक प्रकार से साक्षात ज्ञान-विषय हैं। भारत में वे शुभ्रता का सबसे शुभ्र बिंदु हैं।

श्री रमण के जीवन और उनकी शिक्षाओं में हमें जो मिलता है वह भारत का पवित्रतम अंश है : वह सहस्राब्दियों का गान है जिसमें विश्व से मुक्त और मुक्तिदायिनी मानवता का प्राण निनादित है। यह संगीत एक ऐसे महान राग में बंधा है जो भारतीय भावना के अंदर हजारों रंगारंग प्रतिध्वनियों में पुनरुज्जीवित होता है, और उसके नवीनतम अवतार श्री रमण महर्षि स्वयं है।···

श्री रमण का जीवन और उनकी शिक्षाएं केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, पश्चिम के लोगों के लिए भी महत्वपूर्ण हैं। वे केवल मानवीय दृष्टि से ही अत्यंत रोचक नहीं हैं, अपितु मानवता के लिए, आज जिसके अपनी अचेतना और संयमहीनता की विश्रृंखलता में खो जाने का डर है, चेतावनी का एक संदेश भी हैं।

अपनी पुस्तक **क्रिश्चियानिटी एंड द ऐंकाउंटर ऑव वर्ल्ड रिलीजंस** में टिलिच कहते हैं :

भक्ति, चिंतन और कर्म द्वारा जब कोई अपने धर्म की गहराइयों में उतरता है तो धर्म का अपना महत्त्व नहीं रहता और धर्म जिसकी ओर निर्देश करता है वह उसकी पृथक्ता को भेदता हुआ उसे एक आत्मिक स्वतंत्रता पर पहुंचा देता है, जिससे मनुष्य के अस्तित्व के चरम अर्थ की अन्य अभिव्यक्तियों में भी उसे आत्मा की उपस्थिति के दर्शन होते हैं।

महर्षि, जीवन्मुक्त के रूप में, इसी आत्मिक स्वतंत्रता, सर्वत्र आत्मा की

उपस्थिति के इसी दर्शन की मूर्ति है और इसी की शिक्षा देते है। वे यह भी सिखाते है कि मोक्ष—प्रत्येक धर्माचार और प्रत्येक संघ (समाज) का अंत और उसके पार जाना—कोई सुदूर लक्ष्य नहीं है, बल्कि प्रत्येक चेतना व्यक्ति का सदा विद्यमान आत्म-रूप है। इस आत्म-रूप को, जो सभी के आत्म-रूपों का आत्म-रूप है, पहचानना सत्य को समझदारी से स्वीकार करना है, जिससे मनुष्य अपने धर्म, अपने समाज और पूरी मानव जाति का एक जीवंत केंद्र होने का संतोष और साहस प्राप्त कर सकता है।

संदर्भिका

गणपति शास्त्री, काव्यकंठ : उपदेशसार, भाष्य (तमिल) (श्री रमणाश्रमम्)
श्री रमण गीता (संस्कृत) (श्री रमणाश्रमम्)
सद् दर्शनम (संस्कृत) (श्री रमणाश्रमम्)

नटनानंद, स्वामी : रमण दर्शन (तमिल) श्री रमणाश्रमम्)

मुरुगनार : अक्षर मणमलै, भाष्य (तमिल) (श्री रमणाश्रमम्)
गुरु वाचक कोवै (तमिल) (श्री रमणाश्रमम्)
रमण सन्निधि मुरै (तमिल) (श्री रमणाश्रमम्)

'हू' लक्ष्मण शर्मा : उल्लदु नार्पदु भाष्य (तमिल) (श्री रमणाश्रमम्)

Anantamurti : *Life and Teachings of Sree Ramana Maharshi* (Author, Bangalore)

Anantanarayanan : *Quintessence of Wisdom or Thirty Verses* (Sri Ramanasramam, Tiruvannamalai)

Blyth, R.H. : *Zen in English Literature* (Hokuseidu, Tokyo)

Burnton, Paul . : *Search in Secret India* (Rider)
Maharshi and his Message (Shri Ramanasramam)

Chadwick : *A Sadhu's Reminiscences* (Shri Ramanasramam)

Chidbhavananda, Swami : *Facets of Brahman* (Ramakrishna Tapovana, Tiruparaiturai, Tamil Nadu)

Cohen : *Guru Ramana* (Shri Ramanasramam)
Reflections on "The Talks" (Shri Ramanasramam)

Danielou, Alain : *Hindu Polytheism* (Routledge & Kegan Paul, London)

Devaraja Mudaliar : *Day by Day with Bhagavan* (Shri Ramanasramam)
My Reminiscences (Shri Ramanasramam)

Goldsmith, Joeh : *The Mystical I* (George Allen & Unwin)

Gregg, Richard B. : *What is all this about and what am I ?* Navajivan, Ahmedabad)

Kapali Sastri : *The Maharshi* (Shri Ramanasramam)
The Cardinal Teaching (Shri Ramanasramam)
Commentary on Sat Darsan (Shri Ramanasramam)

Mahadevan, T M.P. : *Ramana Maharshi and his philosophy of Existence* (Shri Ramanasramam)

Mehta, Rohit : *The Nameless Experience* (Bharatiya Vidya Bhavan)

Mountain Path : *Quarterly* (1964 January onwards) (Sri Ramanasramam)

Nagamma, Suri : *Letters from Shri Ramanasramam* (Shri Ramanasramam)

Narasimhaswami, B. V. : *Self-Realization : Life and Teachings of Ramana Maharshi* (Shri Ramanasramam)

Commentary on "Upadesa Sara" (Sri Ramanasramam)
Osborne, Arthur : *Ramana Arunachala* (Sri Ramanasramam)
Ramana Maharshi and the Path of Self-Knowledge (Rider)
Teachings of Ramana Maharshi (Sri Ramanasramam)
Ramachandran, T. P. : *The Concept of Vyavahara in Advaita Vedanta* (Madras University)
Ramana Maharshi : *Collected Works* (Sri Ramanasamam)
Talks (Shri Ramanasramam)
Sadhu Om : *Path of Shri Ramana* (Shri Ramanasramam)
Sarma, D. S. : *Hinduism Through the Ages* (Bharatiya Vidya Bhavan)
Renascent Hinduism (Bharatiya Vidya Bhavan)
Sartre, Jean-Paul : *Being and Nothingness* (Washington Square Press, New York)
Tillich, Paul : *Dynamics of Faith* (Harper)
The Courage to Be (Collins—Fontana Library, London)
Wei Wu Wei : *Fingers Pointing to the Moon* (Routledge)
Ask the Awakened (Routledge)
Why Lazarus Laughed (Routledge)
All Else is Bondage (Oxford University Press)
The Open Secret (Oxford University Press)

The Tenth man (Oxford University Press)
Posthumous Papers (Oxford University Press)

"Who" : *Mahayoga* (Shri Ramanasramam)

Zimmer, Heinrich : *Philosophies of India* (Pantheon Books)
Myths and Symbols in Indian Art and Civilization (Pantheon Books)

डिसेन्ट आफसैट, ए- 73, नारायणा फेज- I, नयी दिल्ली- 110028 द्वारा मुद्रित।